जयशंकर प्रसाद



काव्य संग्रह

[हिन्दीकोश]

Title: Kavya Sangrah.

Author: Jaishankar Prasad.

Release Date: 30 Nov, 2020.

Edition: 1.1

Language: Hindi

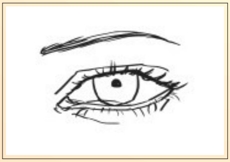
Suggestions and corrections are welcome.

Visit https://www.hindikosh.in for more...

जयशंकर प्रसाद काव्य संग्रह

जयशंकर प्रसाद

लहर



[हिन्दीकोश]

लहर

सूची

अब जागो जीवन के प्रभात!

कोमल कुसमों की मधुर रात!

कितने दिन जीवन जल-निधि में

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?

मेरी आँखों की पुतली में

जग की सजल कालिमा रजनी में

वसुधा के अंचल पर

जगती की मंगलमयी ऊषा बन

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर

अपलक जगती हो एक रात!

काली आँखों का अन्धकार

अरे कहीं देखा है तुमने

शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा

अरे आ गई हैं भूली-सी

निरथक तूने ठुकराया तब

ओ री मानस की गहराई!

मधुर माधवी संध्या में

अंतरिक्ष में अभी सो रही है उषा मधुबाला

उठ उठ री लघु लोल लहर!

उठ उठ री लघु लोल लहर!
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाई-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर!

शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,

तू लौट कहाँ जाती है री –

यह खेल खेल ले ठहर-ठहर!

उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,

नर्तित पद-चिह्न बना जाती,

सिकता की रेखायें उभार –

भर जाती अपनी तरल-सिहर!

तू भूल न री, पंकज वन में,

जीवन के इस सूनेपन में,

ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक!

आ चूम पुलिन के बिरस अधर!

निज अलकों के अन्धकार में

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे?

इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे!

आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिह्न-सी बनकर यहीं पड़ी रह जावेगी ।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी ।
देख म लूँ, इतनी ही तो है इच्छा? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ ।
फिर कह दोगे;पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो ।
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर रेत निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली हैं चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो।

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या हैं धरा, सुनो,
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे क्षितिज! उदार बनो।

मधुप गुनगुना कर कह जाता

मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा मे असंख्य जीवन-इतिहास
यह लो, करते ही रहते हैं अपना व्यंग्य-मलिन उपहास।
तब भी कहते हो – कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे-यह गागर रोती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले –
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूले अपनी, या प्रवंचना औरों की दिखलाऊँ मैं ।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिलाकर हँसते होनेवाली उन बातों की ।
मिला कहाँ वह सुख जिसका स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन मे आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया ?
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।

अनुरागिनि उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक का पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों को सुनता मै मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे-मेरी भोली आत्म कथा?
अभी समय भी नहीं-थकी सोई हैं मेरी मौन व्यथा।

अरी बरुणा की शान्त कछार!

अरी बरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों का कानन कुञ्ज!
जगत नश्वरता से लघु त्राण, लता, पादप सुमनों के पुञ्ज!
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे संसार।

अरी बरुणा की शान्त कछार!

तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारे कुञ्जों में तल्लीन, दर्शनों के होते ते वाद।

देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।

स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करती थी सुविचार –

भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार?

अरी बरुणा की शान्त कछार!

तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।

पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव सुलभ दुलार।

दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।

सुनाने आरण्यक संवाद, तथागत आया तेरे द्वार।

अरी बरुणा की शान्त कछार!

तपस्वी के विराग की प्यार!

मुक्ति जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शांत।
तिमिर का हरने को दुख भार, तेज अमिताभ अलौकिक कात।
देव कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार –
तोड़ सकते हो तुम भव बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार।

अरी बरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय घोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी है रवि चन्द्र।

अरी बरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार।
आज कितनी शताब्दियों बाद, उठी ध्वसों में वह झंकार।

प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार।

ले चल वहाँ भुलावा देकर

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे।

जिस निर्जन मे सागर लहरी।
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँत घनी रे ।

जिस गम्भीर मधुर छाया में
विश्व चित्र-पट चल माया में
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम विश्राम क्षितिज वेला से
जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से
बिखराती हो ज्योति घनी से!

हे सागर सङ्गम अरुण नील!

हे सागर संगम अरुण नील!

अतलान्त महा गंभीर जलधि
तज कर अपनी यह नियत अवधि,
लहरों के भीषण हासों में

आकर खारे उच्छ्वासों में

युग युग की मधुर कामना के
बन्धन को देता ढील।
हे सागर संगम अरुण नील।

पिङ्गल किरनों-सी मधु-लेखा,
हिमशैल बालिका को तूने कब देखा!

कवरल संगीत सुनाती,
किस अतीत युग की गाथा गाती आती।

आगमन अनन्त मिलन बनकर
बिखराता फेनिल तरल खील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील!

आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,

देवलोक की अमृत कथा की माया –

छोड़ हरित कानन की आलस छाया –

विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना –

निस्सीम व्योम तल नील अंक में
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील?
हे सागर संगम अरुण नील!

उस दिन जब जीवन के पथ में

उस दिन जब जीवन के पथ में,
        छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
        मधु-भिक्षा की रटन अधर मे,
        इस अनजाने निकट नगर में,
        आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
लोगों की आँखें ललचाई,
स्वयं माँगने को कुछ आई,
मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना संचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगी ठिठोली;
हृदय ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता
वह रस बरबस था न समाता;
स्वयं चकित-सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन!

उस दिन जब जीवन के पथ में,

मधु-मंगल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती
आशा, समझ मिला अपना धन।

बीती विभावरी जाग री!

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डूबो रही
तारा-घट उषा नागरी।

खग-कुल कुल कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,

अलकों में मलयज बन्द किये

तू अब तक सोई है आली।

आँखों मे भरे विहाग री!

आँखों से अलख जगाने को

आँखों से अलख जगाने को;
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा सी आँखों में कितनी
मादकता भरी ललाई है।

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन –
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगराई है।

लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,

सागर का उद्वेलित अञ्चल।

पोंछ रहा आँखें छलछल,

किसने यह चोट लगाई है?

आह रे, वह अधीर यौवन!

आह रे, वह अधीर यौवन!

मत मारुत पर चढ़ उद्भ्रान्त,

बरसने ज्यों मदिरा अश्रान्त –

सिन्धु बेला सी घन मंडली,

अखिल किरनों को ढँक कर चली,

भावना के निस्सीम गगन,

बुद्धि चपला का क्षण नर्तन –

चूमने को अपना जीवन,

चला था वह अधीर यौवन!

आह रे, वह अधीर यौवन!

अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगन मयी –
वेदना लिये व्यथाएँ नयी,
टूटते जिससे सब बन्धन,
सरस सीकर से जीवन-कन,
बिखर भर देते अखिल भुवन,
वह पागल अधीर यौवन!

आह रे, वह अधीर यौवन!
मधुर जीवन के पूर्ण विकास,
विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम विकास,
ठहर, भर आँखों देख नयी –
भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन –
समय का सुन्दर वातायन,
देखने को अदृष्ट नर्तन।
अरे अभिलाषा के यौवन!

आह रे, वह अधीर यौवन!!

तुम्हारी आँखों का बचपन!

तुम्हारी आँखों का बचपन!
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस-हँस कर मन,
आह रे, व्यतीत जीवन!

तुम्हारी आँखों का बचपन!
साथ ले सहचर सरस वसन्त,
चंक्रमण करता मधुर दिगन्त,
गूँजता किलकारी निस्वन,
पुलक उठता तब मलय-पवन।

तुम्हारी आँखों का बचपन!

स्निग्ध संकेतों में सुकमार,

बिछल,चल थक जाता जब हार,

छिड़कता अपना गीलापन,

उसी रस में तिरता जीवन।

तुम्हारी आँखों का बचपन!

आज भी हैं क्या नित्य किशोर –

उसी क्रीड़ा में भाव विभोर –

सरलता का वह अपनापन –

आज भी हैं क्या मेरा धन!

तुम्हारी आँखों का बचपन!

अब जागो जीवन के प्रभात!

अब जागो जीवन के प्रभात!

वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोम भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात!
अब जागो जीवन के प्रभात!

तम-नयनों की तारायें सब
मुँद रही किरण दल में हैं अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात!
अब जागो जीवन के प्रभात!

रजनी की लाज समेटी तो,
कलरव से उठ कर भेंटो तो,
अरुणांचल में चल रही वात।
अब जागो जीवन के प्रभात!

कोमल कुसुमों की मधुर रात!

कोमल कुसुमों की मधुर रात!
शशि-शतदल का यह सुख विकास,
जिसमें निर्मल हो रहा हास,
उसकी साँसों का मलय वात!

कोमल कुसुमों की मधुर रात!
वह लाभ भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल-घूँघट ढँक रहा दन्त,
कँप कँप चुप चुप कर कर रही बात

कोमल कुसुमों की मधुर रात!
नक्षत्र-कुमुद की अलस माल,
वह शिथिल हँसी का सजल जाल –
जिसमें खिल खुलते किरन पात।

कोमल कुसुमों की मधुर रात!
कितने लघु-लघु कुड्मल अधीर,
गिरते बन शिशिर-सुगन्ध-नीर,
हो रहा विश्व सुख-पुलक गात!

कितने दिन जीवन जल-निधि में

कितने दिन जीवन जल-निधि में –

विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी, कूल चूमने चलकर
उठती गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में !

कितनी मधु-संगीत-निनादित
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गावेगी वंचित!
पागल-सी इस पथ निरवधि में!

दिनकर हिमकर तारा के दल
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल

चित्र बनायेंगे निज चंचल!

आशा की माधुरी अवधि में !

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?

जब सावन-घन सघन बरसते –
इन आँखों की छाया भर थे!

सुरधनु रंजित नवजलधर से –
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली –
बरस रही थी जब हरियाली –

रस जलकन मालती मुकुल से –
जो मदमाते गन्ध विधुर थे!

चित्र खींचती थी जब चपला
नील मेघ-पट पर वह बिरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें –
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

मेरी आँखों की पुतली में

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्रान समा जा रे!

जिसके कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव-अभिनन्दन हो –
वह जीवन गीत सुना जा रे!

खिंच जाय अधर पर वह रेखा –
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा,
वह स्मिति का चित्र बना जा रे !

जग की सजल कालिमा रजनी में

जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ।
हृदय अँधेरी झोली इसमें ज्योति भीख देने आओ।
प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक मींड़ ठहरा जाओ।
प्रेम वेणु की स्वर लहरी में जीवन गीत सुना जाओ।

स्नेहालिङ्गन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन धन! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो!

वसुधा के अंचल पर

वसुधा के अंचल पर
यह क्या कन-कन-सा गया बिखर?
जल शिशु की चंचल कीड़ा-सा,
जैसे सरसिज दल पर।

लालसा निराशा में ढलमल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे मानव जीवन?
कितना है रहा निखर।

मिलने चलने जब दो कन,
आकर्षण-मय चुम्बन बन,
दल के नस-नस मे बह जाती
लघु-लघु धारा सुन्दर।

हिलता डुलता चञ्चल दल,

ये सब कितने हैं रहे मचल

कन-कन अनन्त अम्बुधि बनते!

कब रुकती लीला निष्ठुर!

तब क्यों रे फिर यह सब क्यों?

यह रोष भरी लाली क्यों?

गिरने दे नयनों से उज्ज्वल

आँसू के कन मनहर।

वसुधा के अंचल पर!

जगती की मंगलमयी ऊषा बन

जगती की मंगलमयी ऊषा बन,

करुणा उस दिन आई था।

जिसके नव गैरिक अंचल की प्राची में भरी ललाई थी।

भय-सकुल रजनी बीत गई,
भव की व्याकुलता दूर गई,
घन-तिमिर-भार के लिए तड़ित् स्वर्गीय किरण बन आई थी।

खिलती पँखुरी पंकज-वन की,
खुल रही आँख ऋषि पत्तन की,
दुख की निर्ममता निरख कुसुम-रस के मिस जो भर आई थी

कल-कल नादिनि बहती बहती –
प्राणी दुख की गाथा कहती –
वरुणा द्रव होकर शान्ति-वारि शीतलता सी भर लाई थी।

पुलकित मलयानिल कूलों में
भरता अञ्जलि था फूलों में
स्वागत था अभया वाणी का निष्ठुरता लिये बिदाई थी।

उन शान्त तपोवन कुञ्जों में,
कुटियों, तृण-वीरुध पुञ्जों में,
उटजों में था आलोक भरा कुसुमित लतिका झुक आई थी।

मृद मधुर जुगाली करते से,

खग कलरव में स्वर भरते से,

विपदा से पूछ रहे किसकी पदध्वनि सुनने में आई थी।

प्राची की पथिक चला आता,

नभ पद-पराग से भर जाता,

वे थे पुनीत परमाणु दया ने जिसने सृष्टि बनाई थी।

तम की तारुण्यमयी प्रतिमा,

प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,

इस व्यथित विश्व की चेतनता गौतम सजीव बन आई थी।

उस पावन दिन की पुण्यमयी.

स्मृति लिये धरा है धैर्यमयी,

जब धर्म चक्र के सतत प्रवर्तन की प्रसन्न ध्वनि छाई थी।

युग-युग की नव मानवता को,

विस्तृत वसुधा की विभुता को,

कल्याण संघ की जन्मभूमि आमंत्रित करती आई थी।

स्मृति-चिह्नों की जर्जरता में,

निष्ठुर कर की बर्बरता में,

भूले हम वह सन्देश न जिसने फेरी धर्म दुहाई थी।

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर

वह कौन अकिञ्चन अति आतुर

अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश

ध्वनि कम्पित करता बार-बार,

धीरे से वह उठता पुकार –

मुझको न मिला रे कभी प्यार।

सागर लहरों सा आलिङ्गन

निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन

जल वैभव है सीमा विहीन

बह रहा एक कन को निहार,

    धीरे से वह उठता पुकार –

    मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अकरुण वसुधा से एक झलक

वह स्मृत मिलने को रहा ललक

जिसके प्रकाश में सकल कर्म

बनते कोमल उज्ज्वल उदार,

    धीरे से वह उठता पुकार –

    मुझको न मिला रे कभी प्यार।

फैलाती है जब उषा राग

जग कहता है उसका विराग

वञ्चकता, पीड़ा, घृणा, मोह

मिलकर बिखेरते अंधकार;

    धीरे से वह उठता पुकार –

    मुझको न मिला रे कभी प्यार।

ढल विरल डालियाँ भरी मुकुल

झुकती सौरभ रस लिये अतुल
अपने विषाद विष में मूर्च्छित
काँटों से बिंध कर बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार –
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

जीवन रजनी का अमल इन्दु
न मिला स्वाती का एक बिन्दु
जो हृदय सीप में मोती बन
पूरा कर देता लक्षहार,
धीरे से वह उठता पुकार –
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही है सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार?

मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपलक जगती हो एक रात!

अपलक जगती हो एक रात!

सब सोये हों इस भूतल में,
अपनी निरीहता सम्बल में
चलती हो कोई भी न बात!

पथ सोये हों हरियाली में,
हों सुमन सो रहे डाली में,
हो अलस उनींदी नखत पाँत!

नीरव प्रशान्ति का मौन बना;
चुपके किसलय से बिछल छना;
थकता हो पंथी मलय-वात।

वक्षस्थल में जो छिपे हुए –
सोते हों हृदय अभाव लिए –
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

काली आँखों का अन्धकार

काली आँखों का अन्धकार
तब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार –
वह चित्र! रंग का ले बहार
जिसमें हैं केवल प्यार प्यार!

केवल स्मितिमय चाँदनी रात,
तारा किरनों से पुलक गात,
मधुपों मुकुलों के चले घात,
आता हैं चुपके मलय वात,

सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता हैं बूँद चार!

तब लहरों-सा उठकर अधीर
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर,
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा पतझड़ का पा समीर।
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार!

अरे कहीं देखा हैं तुमने

अरे कहीं देखा हैं तुमने
मुझे प्यार करनेवाले को?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरनेवाले को?

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण-सा हृदय गला कर
जीवन सन्ध्या को नहला कर
रिक्त जलधि भरने वाले को?

रजनी के लघु-तम कन में
जगती की ऊष्मा के वन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन में
छिप, मुझसे डरने वाले को?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या वह कँपने
देख मौन मरने वाले को?

शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा

शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा
चाहे न मुझे दिखलाना।
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना।

संसार स्वप्न बनकर दिन-सा
आया हैं नहीं जगाने,
मेरे जीवन के सुख निशीध!
जाते-जाते रुक जाना।

हाँ, इन जाने की घड़ियों
कुछ ठहर नहीं जाओगे?
छाया पथ में विश्राम नहीं,
है केवल चलते जाना।

मेरा अनुराग फैलने दो,
नभ के अभिनव कलरव में,
जाकर सूनेपन के तम में
बन किरन कभी आ जाना।

अरे आ गई हैं भूली-सी

अरे आ गई हैं भूली-सी –
यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को

वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सबसे हो,
झाड़खंड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको!

आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किन को?

सिहर भरी कँपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर
मानस नयन नलिन को।

जवा कुसुस-सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को ।

अन्धकार का जलधि लाँध कर
आवेगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को ।

इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से है

दे देने दो इनको ।

निरधक तूने ठुकराया तब

निरधक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मधु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को।

जीवन-रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर में आँसू बन,
वही दे रहा था सावन घन
वसुधा की इस हरियाली को।

निदय हृदय में हूक उठी क्या,
सोकर पहली चूक उठी क्या,
अरे कसक वह कूक उठी क्या,

झंकृत कर सूखी डाली को?

प्राणों के प्यासे मतवाले –
ओ झंझा से चलने वाले।
ढलें और विस्मृति के प्याले,
सोच न कृति मिटने वाली को।

ओ री मानस की गहराई!

ओ री मानस की गहराई!

तू सुप्त, शान्त कितनी शीतल –
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल –
        नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
        ओ पारदर्शिका! चिर चंचल –
        यह विश्व बना हैं परछाई!

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल

मूर्च्छित न रहे ज्यों पिये गरल

सुख-लहर उठा री सरल-सरल

लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,

– तू हँस जीवन की सुधराई!

हँस, झिलमिल हो लें तारा गन,

हँस खिले कुंज में सकल सुमन,

हँस, बिखरें मधु मरन्द के कन,

बनकर संसृति के तव श्रम कन,

– सब कहें दें 'वह राका आई!'

हँस ले भय शोक प्रेम या रण,

हँस ले काला पट ओढ़ मरण,

हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण,

देकर निज चुम्बन के मधुकण,

– नाविक अतीत की उतराई!

मधुर माधवी संध्या में

मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त,
विरल मृदल दलवाली डालों में उलझा समीर जब व्यस्त,
प्यार भरे श्मामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्य शिथिल बिछली पड़ती है वहन कर रहा है उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना – कोई भी न पास होता,
वञ्चित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?
किसी नयन की नील दिशा में क्या कर चुका विश्राम?
क्या झंकृत हो जाते हैं उन स्मृति किरणों के टूटे तार?
सूने नभ में स्वर तरंग का फैलाकर मधु पारावार,
नक्षत्रों से जब प्रकाश की रश्मि खेलने आती हैं,
तब कमलों की-सी जब सन्ध्या क्यों उदास हो जाती है?

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है उषा मधुबाला

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है उषा मधुबाला
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।

सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीडों में अलस विहग मृदुगात,

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

गूँज उठी तेरी पुकार – 'कुछ मुझको भी दे देना –
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।'

दुख सुख से दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात,

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जग कर देखे अपने सुख का सपना!

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन पतङ्ग

जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुंज-से कण-कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन –
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग?

हैं ऊँचा आज मगध शिर –
पदतल में विजित पड़ा,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर,
क्यों गूँज रही हैं अस्थिर –
कर विजयी का अभिमान भंग?

इन प्यासी तलवारों से,

इन पैनी धारों से,

निर्दयता की मारो से,

उन हिंसक हुंकारों से,

नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?

शासन रे मानव मन का!

गिरि भार बना-सा तिनका,

यह घटाटोप दो दिन का –

फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग!

यह महादम्भ का दानव –

पीकर अनंग का आसव –

कर चुका महा भीषण रव,

सुख दे प्राणी को मानव

तज विजय पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,

मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नही थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होनेवाला,
अब गिरा – उठा मतवाला –
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली-काली अलकों में,
आलस, मद नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण भंगुर हैं तरंग।

फिर निर्जन उत्सव शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,

सो जाती हैं मधु बाला,
सूखा लुढ़का हैं प्याला,
बजती वीणा न यहाँ मृदंग।

इस नील विषाद गगन में –
सुख चपला-सा दुख घन मे,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में –
उलझा हैं चंचल मन कुरंग।

आँसू कन-कन ले छल-छल –
सरिता भर रही दृगंचल;
सब अपने में हैं चञ्चल;
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का हैं निषंग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन,

अभिनयमय हैं परिवर्तन,
चल रही यही कब से कुढंग।

करुणा गाथा गाती हैं,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती हैं,
मुख पीला ले जाती है,
वन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरंग।

आलोक किरन हैं आती,
रेश्मी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का हैं मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्राप्त हैं खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,

तब क्यों चटकीला सुमन रंग?

संसृति के विक्षत पर रे!
यह चलती हैं डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधुपान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता हैं यह जीवन पतंग।

शेरसिंह का शस्त्र समर्पण

"ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में –
अब तो न लेश मात्र।
लालसिंह! जीवित कलुष पञ्जनद का
देख, दिये देता है
सिंहों का समूह नख दन्त आज अपना”
“अरी रण-रङ्गिनी!
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी!
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुर्मद दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी –
निकल, चली जा तू प्रतारण के कर से।”
“अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या?
तोपें मुँह खोले खड़ी देखती थी त्रास से
चिलियान वाला में।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समर वीर कर में तू नाचती
लप-लप करती थी – जीभ जैसे यम की!
उठी तू न लूट त्रास भय के प्रचार को,

दारुण निराशा भरी आँखों से देखकर
दृप्त अत्याचार को
एक पुत्र-वत्सला दुराशामयी विधवा
प्रकट पुकार उठी प्राण भरी पीड़ा से —
और भी;

जन्मभूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त होकर कराहती थी
कैसे फिर रुकती?”
“आज विजयी हो तुम
और है पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की —
एक छलना है!
वीरभूमि पञ्चनद वीरता से रिक्त नहीं।
काठ के हो गोले जहाँ
आटा बारूद हो

और पीठ पर हो दुरन्त दंशनों का त्रास
छाती लड़ती हो भरी आग, बाहु बल से
उस युद्ध में तो बस मृत्यु ही विजय है।
सतलज के तट पर मृत्यु श्यामसिंह की –
देखी होगी तुमने भी वृद्ध वीर मूर्ति वह
तोड़ा गया पुल प्रत्यावर्तन के पथ में
अपने प्रवञ्चकों से

लिखता अदृश्य था विधाता वाम कर से।
छल में विलीन बल – बल में विषाद था –
विकल-विलास का।

यवनों के हाथों से स्वतन्त्रता को छीन कर,
खेलता था यौवन-विलासी मत पञ्चनद –
प्रणय विहीन एक वासना की छाया में।
फिर भी लड़े थे हम निज प्राण पण से।

कहेगी शतद्रु-शत-संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव –

स्वत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।
जीना जानते थे,
मरने को मानते थे सिक्ख।
किन्तु आज उनकी अतीत वीर गाथा हुई –
जीत होती जिसकी
वही है आज हारा हुआ।"

"ऊर्जस्वित रक्त और उमङ्ग भरा मन था
जिन युवकों के मणिबन्धों में अबन्ध बल
इतना भरा था
जो उलटता शतघ्नियों को।

गोले जिनके थे गेंद
अग्निमयी क्रीड़ा थी
रक्त की नदी में सिर ऊँचा छाती सीधी कर
तैरते थे।

वीर पञ्चनद के सपूत मातृभूमि के
सो गये प्रतारणा की थपकी लगी उन्हें

छल-बलिवेदी पर आज सब सो गये।
रूप भरी, आशा भरी, यौवन अधीर भरी,
पुतली प्रणयिनी का बाहुपाश खोलकर,
दूध भरी दूध सी दुलार भरी माँ की गोद,
सूनी कर सो गये।

हुआ है सूना पञ्चनद।
भिक्षा नहीं माँगता हूँ
आज इन प्राणों की
क्योंकि, प्राण जिसका आहार, वही इसकी
रखवाली आप करता है, महाकाल ही
शेर पञ्चनद का प्रवीर रणजीत सिंह
आज मरता है देखो;
सो रहा है पञ्चनद आज उसी शोक में।
यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।"

पेशोला की प्रतिध्वनि

अरुण करुण बिम्ब!

वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन पिण्ड!
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित सा –
पश्चिम के व्योम में है आज निरवलम्ब सा।
आहुतियाँ विश्व की अजस्र से लुटाता रहा –
सतत सहस्त्र कर माला से –
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब-सा।
पेशोला की उर्मियाँ है शान्त, घनी छाया में –
तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोंपड़े खड़े है बने शिल्प ये विषाद के –
दग्ध अवसाद से।
धूसर जलद खंड भट पड़े है,
जैसे विजन अनन्त में।

कालिमा बिखरती है सन्ध्या के कलंक सी,
दुन्दुभि-मृदङ्ग-तूर्य शान्त स्तब्ध, मौन है।
फिर भी पुकार सी है गूँज रही व्योम में –

"कौन लेगा भार यह?
कौन विचलेगा नहीं?
दुर्बलता इस अस्थिमांस की –
ठोंक कर लोहे से, परख कर बज्र से,
प्रलयोल्का खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि पुञ्ज सा हँसेगा अट्टहास कौन?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से।
कौन लेगा भार यह?
जीवित है कौन?
साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर, मैं हूँ –
– मैं हूँ – मेवाड़ में,

अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किस का?
बोलो, कोई बोलो – अरे क्या तुम सब मृत हो?

आह, इस खेवा की! –
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में
अन्धकार पारावार गहन नियति सा –
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो।

खींच ले चला है –
काल-धीवर अनन्त में,
साँस, सफरी सी अटकी है किसी आशा में।
आज भी पेशोला के –
तरल जल मंडलों में,
वही शब्द घूमता सा –
गूँजता विकल है।
किन्तु वह ध्वनि कहाँ है?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़!

किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ?"

प्रलय की छाया

थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या हैं आज भी तो धूसर क्षितिज में!
और उस दिन तो;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से –
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।
दूरागत वंशी रव –
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थी, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को – हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगन्ध से –
कस्तूरी मृग जैसी।

पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थी मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था संसार मुझे छुकर।

नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगी।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजड़ित मधु भार से।
हँसती अनंग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नत शिर देख मुझे।

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका में,
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़ती।

नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ

आ आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुस्कान खिल पड़ती।

नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या संगीत को।
कितनी मादकता थी?
लेने लगी झपकी मैं
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती;
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।

"आँखें खुली;
देखा मैने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,

और थे प्रणत वहीं गुर्ज्जर-महीप भी।

वह एक सन्ध्या थी।"

"श्यामा सृष्टि युवती थी

तारक-खचित नीलपट परिधान था

अखिल अनन्त में

चमक रही थी लालसा की दीप्त मणियाँ –

ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी

बहती थी धीरे-धीरे सरिता

उस मधु यामिनी में

मदकल मलय पवन ले ले फूलों से

मधुर मरन्द-बिन्दु उसमें मिलाता था।

चाँदनी के अंचल में।

हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।

सृष्टि के रहस्य भी परखने को मुझको

तारिकाएँ झाँकती थी।

शत शतदलों की

मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम में
बहाती लावण्य धारा।

स्मर शशि किरणें
स्पर्श करती थी इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलाती थी जिस मेरे अंग पर।
अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्ज्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के,
तिरते थे –
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में।
पीते मकरन्द थे –
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्ज्जर के थाले में मरन्द वर्षा करती मैं।"

"और परिवर्तन वह!
क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई

नीले मेघ माला-सी

नियति-नटी थी आई सहसा गगन में

तड़ित विलास-सी नचाती भौंहे अपनी।"

"पावक-सरोवर में अवभृथ स्नान था

आत्म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति

सुना-जिस दिन पद्मिनी का जल मरना

सती के पवित्र आत्म गौरव की पुण्य-गाथा

गूँज उठी भारत के कोने-कोने जिस दिन;

उन्नत हुआ था भाल

महिला-महत्त्व का।

दृप्त मेवाड़ के पवित्र बलिदान का

ऊर्जित आलोक

आँख खोलता था सबकी।

सोचने लगी थी कुल-वधुएँ, कुमारिकाएँ

जीवन का अपने भविष्य नये सिर से;

उसी दिन
बींधने लगी थी विषमय परतंत्रता।

देव-मन्दिरों की मूक घंटा-ध्वनि
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से।

मै भी थी कमला,
रूप-रानी गुजरात की।
सोचती थी –
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।
देखे तो प्रचंड रूप-ज्वाला की धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह! कैसी वह स्पर्द्धा थी?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की वाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,

मेरे इस साँचे मे ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैने समझा था यही।
वह अतिरंजित-सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ?
वैसा दिव्य
अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लधुता चली थी माप करने महत्त्व की।

"अभिनय आरम्भ हुआ
अन्हलवाड़ा में अनल चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर में
गुर्ज्जरेश मेरी उन इंगितों में नाच उठे।
नारी के नयन! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते

धैर्य किसका नहीं हरते ये?
वही अस्त्र मेरा था।
एक झटके में आज
गुर्जर स्वतंत्र साँस लेता था सजीव हो।

क्रोध सुलतान का दग्ध करने लगा
दावानल बनकर
हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का।
बालकों की करुण पुकारें, और वृद्धों की
आर्तवाणी,
क्रन्दन रमणियों का,
भैरव संगीत बना, तांडव-नृत्य-सा
होने लगा गुर्जर में।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से
फाँद पड़ी मैं भी उस देश की विपत्ति में।
वही कमला हूँ मैं!
देख चिरसंगिनी रणांगण में, रंग में,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे

बाधा, विघ्न, आपदाएँ,

अपनी ही क्षुद्रता में टलती-बिचलतीं

हँसते वे देख मुझे

मै भी स्मित करती।

किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता में?

संबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश में

छोड़ना पड़ा ही उसे।

निर्वासित हम दोनों खोजते शरण थे,

किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।

"वह दुपहरी थी,

लू से झुलसाने वाली; प्यास से जलानेवाली।

थके सो रहे थे तरुछाया में हम दोनों

तुर्कों का एक दल आया झंझावात-सा।

मेरे गुर्ज्जरेश !

आज किस मुख से कहूँ?

सच्चे राजपूत थे,

वह खड्ग लीला खड़ी देखती रही मैं वहीं
गत-प्रत्यागत में और प्रत्यावर्तन में
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मै।
वाह री नियति!
उस उज्ज्वल आकाश में
पद्मिनी की प्रतिकृति-सी किरणों में बनकर
व्यंग्य-हास करती थी।

एक क्षण भ्रम के भुलावे में डालकर
आज भी नचाता वही,
आज सोचती हूँ जैसे पद्मिनी थी कहती-
"अनुकरण कर मेरा"
समझ सकी न मैं।
पद्मिनी की भूल जो थी समझने को
सिंहिनी की दृप्त मूर्ति धारण कर
सन्मुख सुलतान के
मारने की, मरने की – अटल प्रतिज्ञा हुई।

उस अभिमान में

मैने ही कहा था – छाती ऊँची कर उनसे –

"ले चलो मैं गुर्जर की रानी हूँ, कमला हूँ"

वाह री! विचित्र मनोवृत्ति मेरी!

कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहास-शील था?

उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।

रूप यह!

देखे तो तुरुष्कपति मेरा भी

यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी

कितनी महान और कितनी अभूतपूर्व ?

बन्दिनी मैं बैठी रही

देखती थी दिल्ली कैसी विभव विलासिनी।

यह ऐश्वर्य की दुलारी, प्यारी क्रूरता की

एक छलना-सी, सजने लगी था सन्ध्या में।

कृष्णा वह आई फिर रजनी भी।

खोलकर ताराओं की विरल दशन पंक्ति

अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में ।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षणभर चाहती जगाना मैं
सुलतान ही के उस निर्मम हृदय में,
नारी मैं!
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की!

साहस उमड़ता था वेग पूर्ण ओघ-सा
किन्तु हलकी थी मैं,
तृण बह जाता जैसे
वैसे मैं विचारों में ही तिरती-सी फिरती।
कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की।

आज साक्षात होगा कितने महीनों पर
लहरी-सदृश उठती-सी गिरती-सी मैं

अद्‌भुत! चमत्कार!! दृप्त निज गरिमा में
एक सौंदर्यमयी वासना की आँधी-सी
पहुँची समीप सुलतान के।

तातारी दासियों मे मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनों पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला में रही कठिन कृपाणी जो
चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का रुधिर पान करने को।
किन्तु छिन गई वह
और निरुपाय मैं तो ऐंठ उठी डोरी-सी,
अपमान-ज्वाला में अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वहीं मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला।
उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त से सोचने लगी थी मैं –
"जीवन सौभाग्य हैं; जीवन अलभ्य हैं।"
चारों और लालसा भिखारिणी-सी माँगती थी

प्राणों के कण-कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण रो उठे अकिंचन जो
"जीवन अनन्त हैं,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार हैं?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर हैं?
विश्व-भर से मैं जिसे छाती मे छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही: –
अपना दल-अंचल पसार कर बन-राजी,
माँगती हैं जीवन का बिन्दु-बिन्दु ओस-सा
क्रन्दन करता-सा जलनिधि भी
माँगता हैं नित्य मानो जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।
व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से
भोर में ही माँगता हैं
"जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा भरी।
जीवन ही प्यारा हैं जीवन सौभाग्य हैं।"
रो उठी मैं रोष भरी बात कहती हुई

"मारकर भी क्या मुझे मरने न दोगे तुम?
मानती हूँ शक्तिशाली तुम सुलतान हो
और मैं हूँ बन्दिनी।
राज्य हैं बचा नहीं,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझमें रही नहीं
इतनी मैं रिक्त हूँ ?"
क्षोभ से भरा कंठ फिर चुप हो रही।
शक्ति प्रतिनिधि उस दृप्त सुलतान की
अनुनय भरी वाणी गूँज उठा कान में।
"देखता हूँ मरना ही भारत की नारियों का
एक गीत-भार हैं!
रानी तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में
पद्मिनी को खो दिया हैं
किन्तु तुमको नहीं!
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से — मानस की माधुरी से!
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी में
सुन न सकोगी, न विचार ही करोगी तुम

ठहरो विश्राम करों।"

अति द्रुत गति से

कब सुलतान गये

जान सकी मैं न, और तब से

यह रंगमहल बना सुवर्ण पींजरा।

"एक दिन, संध्या थी;

मलिन उदास मेरे हृदय पटल-सा

लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से।

यमुना प्रशान्त मन्द-मन्द निज धारा में,

करुण विषाद मयी

बहती थी धरा के तरल अवसाद-सी।

बैठी हुई कालिमा की चित्र-पटी देखती

सहसा मैं चौंक उठी द्रुत पद-शब्द से।

सामने था

शैशव से अनुचर

मानिक युवक अब

खिंच गया सहसा
पश्चिम-जलधि-कूल का वह सुरम्य चित्र
मेरी इन दुखिया अँखड़ियों के सामने।
जिसको बना चुका था मेरा यह बालपन
अद्‌भुत कुतूहल औ' हँसी की कहानी से।
मैने कहा –
"कैसे तू अभागा यहाँ पहुँचा हैं मरने?"
"मरने तो नहीं यहाँ जीवन की आशा में
आ गया हूँ रानी! – भला
कैसे मैं न आता यहाँ?"
कह, वह चुप था।
छूरे एक हाथ में
दूसरे सो दोनों हाथ पकड़े हुए वहीं
प्रस्तुत थीं तातारी दासियाँ।

सहसा सुलतान भी दिखाई पड़े,
और मैं थी मूक गरिमा के इन्द्रजाल में ।

"मृत्यु दंड!"

वज्र-निर्घोष-सा सुनाई पड़ा भीषणतम

मरता है मानिक!

गूँज उठा कानों में –

"जीवन अलभ्य हैं; जीवन सौभाग्य हैं।"

उठी एक गर्व-सी

किन्तु झुक गई अनुनय की पुकार में

"उसे छोड़ दीजिए" – निकल पडा मुँह से।

हँसे सुलतान,और अप्रतिम होती मैं

जकड़ी हुई थी अपनी ही लाज-शृङ्खला में।

प्रार्थना लौटाने का उपाय अब कौन था?

अपने अनुग्रह के भार से दबाते हुए

कहा सुलतान ने –

"जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा हैं।"

हाय रे हृदय! तूने

कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणि-कोष
और आकाश को पकड़ने की आशा में
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में।

"अन्तर्निहित था
लालसाएँ, वासनाएँ जितनी अभाव में
जीवन की दीनता में और पराधीनता में
पलने लगीं वे चेतना के अनजान में।
धीरे-धीरे आती हैं जैसे मादकता
आँखों के अजान में, ललाई में ही छिपती;
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की।
किन्तु किस युग से वासना के बिन्दु रहे सींचते
मेरे संवेदनों को।
यामिनी के गूढ़ अन्धकार में
सहसा जो जाग उठे तारा से
दुर्बलता को मानती-सी अवलम्ब मैं
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल-सी भूमि पर।
बिखरे प्रलोभनों को मानती-सी सत्य मैं

शासन की कामना में झूमी मतवाली हो।

एक क्षण, भावना के उस परिवर्तन का
कितना अर्जित था?
जीवित हैं गुर्ज्ररेश! कर्णदेव!
भेजा संदेश मुझे "शीघ्र अन्त कर दो
जीवन की लीला।"
लालसा की अर्द्ध कृति-सी!
उस प्रत्यावर्तन मे प्राण जो न दे सके, हाँ
जीवित स्वयं हैं।

जियें फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में?
बन्दिनी हुई मैं अबला थी;
प्राणों का लोभ उन्हें फिर क्यों न बचा सका?
प्रेम कहाँ मेरा था?
और मुझमें भी कैसे कहूँ शुद्ध प्रेम था।
मानिक कहता हैं, आह, मुझे मर जाने को।
रूप न बनाया रानी मुझे गुजरात की,

वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को।

लोभ मेरा मूर्तिमान, प्रतिशोध था बना
और सोचती थी मैं, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुलतान पद तल में।
कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग मन्दिर के व्योम में
क्षीणगन्ध निरवलम्ब।
किन्तु मैं समझती थी, यही मेरी जीवन हैं!
यह उपहार हैं, श्रृंगार हैं।
मेरा रूप माधुरी का।
मणि नूपुरों की बीन बजी, झनकार से
गूँज उठी रंगशाला इस सौन्दर्य की
विश्व था मनाता महोत्सव अभिमान का
आज विजयी था रूप

और साम्राज्य था नृशंस क्रूरताओं का
रूप माधुरी की कृपा-कोर को निरखता
जिसमें मदोद्धत कटाक्ष की अरुणिमा
व्यंग्य करती थी विश्व भर के अनुराग पर।
अवहेलना से अनुग्रह थे बिखरते ।
जीवन के स्वप्न सब बनते-बिगड़ते थे
भवें बल खाती जब;
लोगों की अदृष्ट लिपि लिखी-पढ़ी जाती थी
इस मुसक्यान के, पद्मराग-उद्गम से
बहता सुगन्ध की सुधा का सोता मन्द-मन्द।
रतन राजि, सींची जाती सुमन-मरन्द से
कितनी ही आँखों की प्रसन्न नील ताराएँ
बनने को मुकुर-अचंचल, निस्पन्द थी।
इन्हीं मीन दृगों को चपल संकेत बन
शासन, कुमारिका से हिमालय-शृंग तक
अथक अबाध और तीव्र मेध-ज्योति-सा
चलता था –
हुआ होगा बनना सफल जिसे देखकर

मंजु मीन-केतन अनंग का।
मुकुट पहनते थे सिर, कभी लोटते थे
रक्त दग्ध धरणी मे रूप की विजय में।
हर में सुलतान की
देखती सशंक दृग कोरों से
निज अपमान को।"

"बेच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे;
उसी मानवता के आत्म सम्मान को।"
जीवन में आता हैं परखने का
जिसे कोई एक क्षण,
लोभ, लालसा या भय, क्रोध, प्रतिशोध के
उग्र कोलाहल में,
जिसकी पुकार सुनाई ही नही पड़ती।

सोचा था उस दिन;
जिस दिन अधिकार-क्षुब्ध उस दास ने,

अन्त किया छल से काफूर ने
अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुलतान का।
आँधी में नृशंसता की रक्त-वर्षा होने लगी
रूप वाले, शीश वाले, प्यार से फले हुए
प्राणी राज-वंश के
मारे गये।
वह एक रक्तमयी सन्ध्या थी।
शक्तिशाली होना अहोभाग्य हैं
और फिर
बाधा-विघ्न-आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल विरोध करने में कैसा सुख हैं?
इसका भी अनुभव हुआ था भली-भाँति मुझे
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।

जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने;
आजीवन दास ने, रक्त से रँगे हुए;
अपने ही हाथों पहना है राज मुकुट।

अन्त कर दास राजवंश का,
लेकर प्रचंड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने, खूसरू के नाम से
शासन का दंड किया ग्रहण सदर्प हैं।

उसी दिन जान सकी अपनी मैं सच्ची स्थिति
मैं हूँ किस तल पर?
सैकड़ों ही वृश्चिकों का डंक लगा एक साथ
मैं जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने।
खुसरू ने!!
उद्धत प्रभुत्व का
वात्याचक्र! उठा प्रतिशोध-दावानल में
कह गया अभी-अभी नीच परिवारी वह!

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप हैं
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,

अपना अस्तित्व हैं पुकारते,
नश्वर संसार में
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि है चाहते।"
"लूटा था दृप्त अधिकार में
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतंत्र हो बिखरते है!
एक माया-स्तूप-सा
हो रहा है लोप इन आँखों के सामने।"
देख कमलावती!
ढुलक रही हैं हिम-बिन्दु-सी
सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची-सी
छिपकर चारों और व्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती संकेत हैं व्यंग्य उपहास में ।
ले चली बहाती हुई अन्ध के अतल में
वेग भरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले-काले पङ्ख ढकते हैं अन्ध तम से।

पुण्य ज्योति हीन कलुषित सौन्दर्य का –
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सा
असफल सृष्टि सोती –
प्रलय की छाया में।

•••

जयशंकर प्रसाद

आँसू



[हिन्दीकोश]

आँसू

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

मानस सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कल कल ध्वनि से हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें?

आती हैं शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी?

क्यों व्यथित व्योमगंगा-सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना तरङ्गिनी मेरी
लेती हैं मृदुल हिलोरें?

बस गयी एक बस्ती हैं
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।

शीतल ज्वाला जलती हैं
ईधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर
करती हैं काम अनिल का।

बाड़व ज्वाला सोती थी
इस प्रणय सिन्धु के तल में
प्यासी मछली-सी आँखें
थी विकल रूप के जल में।

बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।

छिल छिल कर छाले फाड़े
मल मल कर मृदुल चरण से
धुल धुल कर बह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिंचन

बेसुध चैतन्य हमारा।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।

इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन में
आँसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास पवन में।

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

सुख आहत शान्त उमंगें
बेगार साँस ढोने में

यह हृदय समाधि बना हैं
रोती करुणा कोने में।

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

अवकाश भला हैं किसको,
सुनने को करुण कथाएँ
बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ

जीवन की जटिल समस्या
हैं बढ़ी जटा-सी कैसी
उड़ती हैं धूल हृदय में
किसकी विभूति हैं ऐसी?

जो घनीभूत पीड़ा थी

मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा, जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणापट बुनते हो।

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली सी थी नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

घिर जाती प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आकर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुसक्याता था आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर!
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये।

गौरव था , नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मै इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आती

मिलती हैं गले लहर से।

मै अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

निर्झर-सा झिर झिर करता
माधवी कुञ्ज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र मुग्ध माया में।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछा कर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में चपल चमक-सी

आँखों मे काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी।

घन में सुन्दर बिजली सी
बिजली में चपल चमक सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी।

प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

माना कि रूप सीमा हैं
सुन्दर! तव चिर यौवन में
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

लावण्य शैल राई सा

जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली?

तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
कालापानी वेला-सी
हैं अञ्जन रेखा काली।

अंकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।

कोमल कपोल पाली में
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसमें भौं में बल देखा।

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे
हैं हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने की मुद्रा ऐसे?

विकसित सरजित वन-वैभव
मधु-ऊषा के अंचल में
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में!

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके?

थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि सर की नव लहरी?

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी!

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में

कुछ सच्चा स्वयं बना था।

वह रूप रूप ही केवल
या रहा हृदय भी उसमें
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर मुझमें।

मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थी उनकी अलकें
पी ली मधु मदिरा किसने
थी बन्द हमारी पलकें।

ज्यों-ज्यों उलझन बढ़ती थी
बस शान्ति विहँसती बैठी
उस बन्धन में सुख बँधता
करुणा रहती थी ऐंठी।

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाँही डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती –
मधुप की तान निराली।

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलों के अधर विहँसते
मकरन्द भार से दब कर
श्रवणों में स्वर जा बसते।

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र हृदय में होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता।

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्ज में मेरे
चाँदनी शिथिल अलसायी
सुख के सपनों से तेरे।

लहरों में प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पी कर
लुढ़का दी तुमने प्याली।

किञ्जल्क जाल हैं बिखरे
उड़ता पराग हैं रूखा
हैं स्नेह सरोज हमारा
विकसा, मानस में सूखा।

छिप गयी कहाँ छू कर वे

मलयज की मृदु हिलोरें
क्यों घूम गयी हैं आ कर
करुणा कटाक्ष की कोरें।

विस्मृति हैं, मादकता हैं
मूर्च्छना भरी हैं मन में
कल्पना रही, सपना था
मुरली बजती निर्जन में।

हीरे-सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिमशीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह से जलने।

अलियों से आँख बचा कर
जब कुंज संकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक-एक को रोते।

जल उठा स्नेह, दीपक-सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

नीरव मुरली, कलरव चुप
अलिकुल थे बन्द नलिन में
कालिन्दी वही प्रणय की
इस तममय हृदय पुलिन में।

कुसुमाकर रजनी के जो
पिछले पहरों में खिलता
उस मृदुल शिरीष सुमन-सा
मैं प्रात धूल में मिलता।

व्याकुल उस मधु सौरभ से
मलयानिल धीरे-धीरे
निश्वास छोड़ जाता हैं
अब विरह तरङ्गिनि तीरे।

चुम्बन अंकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता
मै कोरी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।

श्यामल अंचल धरणी का
भर मुक्ता आँसू कन से
छूँछा बादल बन आया
मैं प्रेम प्रभात गगन से।

विष प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी नयन में
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में।

कामना सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी छाई
रतनाकर बनी चमकती

मेरे शशि की परछाई।

छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या-कुहुकिनि-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता।

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते
थे, उतरे हुए नशे से।

अम्बर असीम अन्तर में
चंचल चपला से आकर
अब इन्द्रधनुष सी आभा
तुम छोड़ गये हो जाकर।

मकरन्द मेघ माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।

हैं हृदय शिशिरकण पूरित
मधु वर्षा से शशि! तेरी
मन मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।

शीतल समीर आता हैं
कर पावन परस तुम्हारा
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आँसू धारा

मधु मालतियाँ सोती हैं
कोमल उपधान सहारे
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे।

निष्ठुर! यह क्या छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

जब शान्त मिलन सन्ध्या को
हम हेम जाल पहनाते
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते।

अब छुटता नहीं छुड़ाये
रंग गया हृदय हैं ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा!

कामना कला की विकसी

कमनीय मूर्ति बन तेरी
खिंचती हैं हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी।

मणि दीप लिये निज कर में
पथ दिखलाने को आये
वह पावक पुंज हुआ अब
किरनों की लट बिखराये।

चढ़ गयी और भी ऊँची
रूठी करुणा की वीणा
दीनता दर्प बन बैठी
साहस से कहती पीड़ा।

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर-छक कर मेरी
अब लाल आँख दिखलाकर
मुझको ही तुमने फेरी।

नाविक! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया
इस बीहड़ बेला मे क्या
अब तक था कोई आया।

उम पार कहाँ फिर आऊँ
तम के मलीन अंचल में
जीवन का लोभ नहीं, वह
वेदना छद्म मय छल में।

प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा हैं।
डूबा हैं हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड़ रहा हैं।

अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा

अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

तिरती थी तिमिर उदधि में
नाविक! यह मेरी तरणी
मुखचन्द्र किरण से खिंचकर
आती समीप हो धरणी।

सूखे सिकता सागर में
यह नैया मेरे मन की
आँसू का धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता
मथ जाला किस तृष्णा से
तल में बड़वानल जलता।

निश्वास मलय में मिलकर

छाया पथ छू आयेगा
अन्तिम किरणें बिखरा कर
हिमकर भी छिप जायेगा।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रहपथ मे टकराऊँगा।

इस यान्त्रिक जीवन में क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती थी ज्योति भरी-सी।
तेरी सजीवता ममता।

हैं चन्द्र हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे।

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतंग से मिलता
जलने की दीन दशा में
वह फूल सदृश हो खिलता!

इस गगन यूथिका वन में
तारे जूही से खिलते
सित शतदल से शशि तुम क्यों
उनमें जाकर हो मिलते?

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरंद भरी खिल जायें
तोड़ी जाये बेमन की।

यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी हैं क्या
चुपचाप चू पड़े जीते!

सब सुमन मनोरथ अञ्जलि
बिखरा दी इन चरणों में
कुचलो न कीट-सा, इनके
कुछ हैं मकरन्द कणों में।

निर्मोह काल के काले –
पट पर कुछ अस्फुट रेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुख मय जीवन रेखा।

दुख सुख में उठता गिरता
संसार तिरोहित होगा
मुड़कर न कभी देखेगा
किसका हित अनहित होगा।

मानस जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे

हैं खेल आँख का मन का।

इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे-से
रोते अब प्राण विकल से।

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा
सन्ध्या की घन अलकों में।

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुंज में जैसे।

अवकाश असीम सुखों से

आकाश तरंग बनाता
हँसता-सा छायापथ में
नक्षत्र समाज दिखाता।

नीचे विपुला धरणी हैं
दुख भार वहन-सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती।

धरणी दुख माँग रही हैं
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।

इतना सुख जो न समाता
अन्तरिक्ष में, जल थल में
उनकी मुट्ठी में बन्दी
था आश्वासन के छल में।

दुख क्या था उनको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे
सोते में चुम्बन लेकर
जब रोम तनिक-सा जागे।

सुख मान लिया करता था
जिसका दुख था जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी हैं
जैसे बिजली हो घन में।

उनका सुख नाच उठा हैं
यह दुख द्रुम दल हिलने से
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।

हो उदासीन दोनों से
दुख सुख से मेल कराये
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाये।

चढ़ जाय अनन्त गगन पर
वेदना जलद की माला
रवि तीव्र ताप न जलाये
हिमकर को हो न उजाला।

नचती है नियति नटी-सी
कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

सन्ध्या की मिलन प्रतीक्षा
कह चलती कुछ मनमानी
ऊषा की रक्त निराशा
कर देती अन्त कहानी।

"विभ्रम मदिरा से उठकर

आओ तम मय अन्तर में
पाओगे कुछ न, टटोलो
अपने बिन सूने घर में।

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे-आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रोओगे अपनाओगे।"

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहो भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में!

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता हैं
रोई आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता हैं।

निशि, सो जावें जब उर में
ये हृदय व्यथा आभारी
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी।

तुम स्पर्श हीन अनुभव-सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम-लता-सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।

सपनों की सोनजुही सब
बिखरें, ये बनकर तारा
सित सरसित से भर जावे
वह स्वर्गङ्गा की धारा

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में
विस्मृति की नील नलिन रस
बरसो अपाङ्ग के घन से।

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी
तम तुहिन बरस दो कन-कन
यह पगली सोये अब भी।

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ-सा
चिन्ता छुट जाय विपद की।

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

रजनी की रोई आँखें

आलोक बिन्दु टपकातीं
तम की काली छलनाएँ
उनको चुप-चुप पी जाती।

सुख अपमानित करता-सा
जब व्यंग हँसी हँसता हैं
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता हैं।

अपने आँसू की अञ्जलि
आँखो से भर क्यों पीता
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्ज्वल होकर है जीता।

वह हँसी और यह आँसू
घुलने दे — मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे।

चुन-चुन ले रे कन-कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जन-रंजन-करी कथाएँ।

जब नील दिशा अंचल में
हिमकर थक सो जाते हैं
अस्ताचल की घाटी में
दिनकर भी खो जाते हैं।

नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गङ्गा की धारा में
बिजली बन्दी होती जब
कादम्बिनी की कारा में।

मणिदीप विश्व-मन्दिर की
पहने किरणों को माला

तुम अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

उत्ताल जलधि वेला में
अपने सिर शैल उठाये
निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती में जलन छिपाये

संकेत नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये
जब सोती गहन गुफा में
चञ्चल लट को छिटकाये।

वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व वेदना बाला
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला!

इस व्यथित विश्व पतझड़ की

तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे! सदा सुहानिगि
मानवता सिर की रोली।

जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला-सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला-सी।

जगद्वन्द्वों के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला
किरणों के केसर रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

तेरे प्रकाश में चेतन –
संसार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

उसमें धुँधली छायाएँ
परिचय अपना देती हैं
रोदन का मूल्य चुकाकर
सब कुछ अपना लेती हैं।

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय को
कल्याणी शीतल ज्वाला।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन हैं सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती हैं
मुस्क्याती खड़ी अमरता ।

वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन में

फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सो नेवाले
अधरों से हँसते-हँसते
आँखों से रोनेवाले।

इस स्वप्नमयी संसृत्ति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मंगल किरणों से रंजित
मेरे सुन्दरतम जागो।

अभिलाषा के मानस में
सरसिज-सी आँखें खोलो
मधुपों से मधु गुञ्जारो
कलरव से फिर कुछ बोलो।

आशा का फैल रहा हैं

यह सूना नीला अंचल
फिर स्वर्ण-सृष्टि-सी नाचे
उसमें करुणा हो चंचल

मधु संसृत्ति की पुलकावलि
जागो, अपने यौवन में
फिर से मरन्द उद्‌गम हो
कोमल कुसुमों के वन में।

फिर विश्व माँगता होवे
ले नभ की खाली प्याली
तुमसे कुछ मधु की बूँदे
लौटा लेने को लाली।

फिर तम प्रकाश झगड़े में
नवज्योति विजयिनी होती
हँसता यह विश्व हमारा
बरसाता मंजुल मोती।

प्राची के अरुण मुकुर में
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूँ
अपनी आँखों का तारा।

कुछ रेखाएँ हों ऐसी
जिनमें आकृति हो उलझी
तब एक झलक! वह कितनी
मधुमय रचना हो सुलझी।

जिसमें इतराई फिरती
नारी निसर्ग सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता

आँखों का निधि वह मुख हो
अवगुंठन नील गगन-सा
यह शिथिल हृदय ही मेरा
खुल जावे स्वयं मगन-सा।

मेरी मानसपूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो
झरता अनन्त यौवन मधु
अम्लान स्वर्ण शतदल हो।

कल्पना अखिल जीवन की
किरनों से दृग तारा की
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धारा की।

वेदना मधुर हो जावे
मेरी निर्दय तन्मयता
मिल जाये आज हृदय को
पाऊँ मैं भी सहृदयता।

मेरी अनामिका सङ्गिनि!
सुन्दर कठोर कोमलते!
हम दोनों रहें सखा ही

जीवन-पथ चलते-चलते।

ताराओं की वे रातें
कितने दिन-कितनी घड़ियाँ
विस्मृति में बीत गई वे
निर्मोह काल की कड़ियाँ

उद्वेलित तरल तरंगें
मन की न लौट जावेंगी
हाँ, उस अनन्त कोने को
वे सच नहला आवेंगी।

जल भर लाते हैं जिसको
छूकर नयनों के कोने
उस शीतलता के प्यासे
दीनता दया के दोने।

फेनिल उच्छ्वास हृदय के
उठते फिर मधुमाया में
सोते सुकुमार सदा जो
पलकों की सुख छाया में।

आँसू वर्षा से सिंचकर
दोनों ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी में
जीवन द्रव अमल भरा हो।

जैसे सरिता के तट पर
जो जहाँ खड़ा रहता है
विधु का आलोक तरल पथ
सन्मुख देखा करता है।

जागरण तुम्हारा त्यों ही
देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूँदों से भी
हर लेता सब पंकिलता

इस छोटी सी सीपी में
रत्नाकर खेल रहा हो
करुणा की इन बूँदों में
आनन्द उँड़ेल रहा हो।

जैसे जीवन का जलनिधि
बन अंधकार उर्मिल हो
आकाशदीप-सा तब वह
तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

हैं पड़ी हुई मुँह ढक कर
मन की जितनी पीड़ाएँ
वे हँसने लगीं सुमन-सी
करती कोमल क्रीड़ाएँ।

तेरा आलिंगन कोमल
मृदु अमरबेलि-सा फैले
धमनी के इस बन्धन में

जीवन ही हो न अकेले।

हे जन्म जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में ।

जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।

सपनों की सुख छाया में
जब तन्द्रालस संसृति है
तुम कौन सजग हो आई
मेरे मन में विस्मृति है!

तुम! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर जीवनसंगिनि
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने! अश्रुमयि रङ्गिनि!

जब तुम्हें भूल जाता हूँ
कुड्मल किसलय के छल में
तब कूक हूक-सू बन तुम
आ जाती रंगस्थल में।

बतला दो अरे न हिचको
क्या देखा शून्य गगन में
कितना पथ हो चल आई
रजनी के मृदु निर्जन में!

सुख तृप्त हृदय कोने को
ढँकती तमश्यामल छाया
मधु स्वप्निल ताराओं की
जब चलती अभिनय माया।

देखा तुमने तब रुककर
मानस कुमुदों का रोना
शशि किरणों का हँस-हँसकर
मोती मकरन्द पिरोना।

देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने की ललचाना
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ-उठकर गिर जाना।

मुँह सिये, झेलतीं अपनी
अभिशाप ताप ज्वालाएँ
देखी अतीत के युग की
चिर मौन शैल मालाएँ।

जिनपर न वनस्पति कोई
श्यामल उगने पाती है
जो जनपद परस तिरस्कृत

अभिशप्त कही जाती हैं।

कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी
फिर देखा उड़ जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।

फिर उन निराश नयनों की
जिनके आँसू सूखे हैं
उस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं।

सूखी सरिता की शय्या
वसुधा की करुण कहानी
कूलों में लीन न देखी
क्या तुमने मेरी रानी?

सूनी कुटिया कोने में
रजनी भर जलते जाना

लघु स्नेह भरे दीपक का
देखा है फिर बुझ जाना।

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसों प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में ।

•••

जयशंकर प्रसाद

झरना



[हिन्दीकोश]

झरना

सूची

समर्पण

हृदय ही तुम्हें दान कर दिया।

क्षुद्र था, उसने गर्व किया॥

तुम्हें पाया अगाध गम्भीर।

कहाँ जल बिन्दु, कहाँ निधि क्षीर॥

हमारा कहो न अब क्या रहा?

तुम्हारा सब कब का हो रहा॥

तुम्हें अर्पण; औ' वस्तु त्वदीय?

छीन लो छीन ममत्व मदीय॥

परिचय

उषा का प्राची में अभ्यास,

सरोरुह का सर बीच विकास॥

कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?

गगन मंडल में अरुण विलास॥

रहे रजनी मे कहाँ मिलिन्द?

सरोवर बीच खिला अरविन्द।

कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?

मधुर मधुमय मोहन मकरन्द॥

प्रफुल्लित मानस बीच सरोज,

मलय से अनिल चला कर खोज।

कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?

वही परिमल जो मिलता रोज॥

राग से अरुण घुला मकरन्द।

मिला परिमल से जो सानन्द।

वही परिचय, था वह सम्बन्ध

'प्रेम का मेरा तेरा छन्द॥'

झरना

मधुर हैं स्रोत मधुर हैं लहरी
न हैं उत्पात, छटा हैं छहरी
मनोहर झरना।

कठिन गिरि कहाँ विदारित करना
बात कुछ छिपी हुई हैं गहरी
मधुर हैं स्रोत मधुर हैं लहरी

कल्पनातीत काल की घटना
हृदय को लगी अचानक रटना
देखकर झरना।

प्रथम वर्षा से इसका भरना
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना

कर गई प्लावित तन मन सारा
एक दिन तब अपांग की धारा
हृदय से झरना –

बह चला, जैसे दृगजल ढरना।

प्रणय वन्या ने किया पसारा

कर गई प्लावित तन मन सारा

प्रेम की पवित्र परछाई में

लालसा हरित विटप झाँई में

बह चला झरना।

तापमय जीवन शीतल करना

सत्य यह तेरी सुघराई में

प्रेम की पवित्र परछाई में॥

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में।

जब करता हूँ बेकल, चंचल,

मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता हैं भ्रान्त,

भटकता हैं भ्रम के बन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।

जब लेता हूँ आभारी हो,
बल्लरियीं से दान
कलियों की माला बन जाती,
अलियों का हो गान,

विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति! तेरे आँगन में।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार,

चमत्कृत होता हूँ मन में,

विश्व के नीरव निर्जन में।

प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रहीं
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से।
अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ।

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझे,

खुली आँख, आनन्द दृश्य दिखला दिया।
मनोवेग मधुकर सा फिर तो गूँज के
मधुर मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।

वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की,
प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में
कैसी छबि ने बाल अरुण सी प्रकट हो
शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया।

सद्यःस्नात हुआ मै प्रेम सुतीर्थ में
मन पवित्र उत्साह-पूर्ण सा हो गया,
विश्व, विमल आनन्द-भवन सा हो गया,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे है सब तार,

चलता है परिश्रम का मारुत, लेकर शीतलता का भार।
भीग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार,
अरुण किरण सम, कर से छूलो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार।
धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार,
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार,
धो डाले है इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार।
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश,
मेरे ऐसे धूल कणों से, कब तेरे पद को अवकाश!
पैरो ही से लिपटा लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार,
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥

रूप

ये बंकिम भ्रू युगल, कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र चपल मद से भरे,
अरुण राग रंजित कोमल हिम खण्ड से –
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी।

धवल स्मिति जैसे शारद घन बीच में –
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
चपला-सी है, ग्रीवा हंसी सी बढ़ी।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रही।

मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही –
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता –
चीनांशुक बनकर लिपटी है अङ्ग में।

अस्त-व्यस्त है वह भी ढँक ले कौन-सा –
अङ्ग, न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे।
सिंचे हुए वे सुमन सुरभि मकरन्द से –
पङ्ख तितलियों के करते है व्यजन से।

दो बूँदें

शरद का सुन्दर नीलाकाश,
निशा निखरी, था निर्मल हास,
बह रही छाया पथ में स्बच्छ
सुधा सरिता लेती उच्छ्वास।
पुलक कर लगी देखने धरा,
प्रकृति भी सकी न आँखें मूँद,
सुशीतलकारी शशि आया,
सुधा की मनो बड़ी सी बूँद।

हरित किसलयमय कोमल वृक्ष,
झुक रहा जिसका पाकर भार,
उसी पर रे मतवाले मधुप!
बैठकर करता तू गुंजार।

न आशा कर तू अरे! अधीर,
        कुसुम रज – रस ले लूँगा गूँद,
फूल है नन्हा सा नादान,
        भरा मकरन्द एक ही बूँद।

पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी में घिर चुकी,
अब उसके कुछ बचे अंश आकाश में
भूले भटके पथिक सदृश हैं घूमते।

अर्ध रात्रि में खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो बिछल पड़ा था, वह चपल
मलयानिल भी अस्त व्यस्त हैं घूमता
उसे स्थान ही कहीं ठहरने को नहीं।

मुक्त व्योम में उड़ते-उड़ते डाल से,
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी
निकल-निकल कर भूल या कि अनजान में,
लगती हैं खोजने किसी को प्रेम से।

क्लान्त तारकागण की मद्यप-मंडली
नेत्र निमीलन करती हैं फिर खोलती।
रिक्त चपक सा चन्द्र लुढ़ककर हैं गिरा,
रजनी के आपानक का अब अंत हैं।

रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा में झाँका और फिर
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची के प्रांगण में तभी ॥

वसन्त की प्रतीक्षा

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग-जल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज।
न काँटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूँ इन्हें सयत्न।
कभी तो होगा इनमें फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न।
कभी मधु राका देख इसे, करेगी इठलाती मधुहास।
अचानक फूल खिल उठेंगें, कुंज होगा मलजय-आवास।
नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा-मकरन्द।
मूक हो मतवाली ममता, खिले फूलों से विश्व अनन्त।
चेतना बने अधीर मिलिन्द, आह वह आवे विमल वसन्त॥

वसन्त

तू आता है फिर जाता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,

जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसन्त क्यों तू आता है?

पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है फिर जाता है।
बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म व्यथा,
वह डाल डाल पर जाता है फिर ताल ताल पर गाता है।

मलयज मन्थर गति आता है,
तू आता है फिर जाता है।
जीवन की सुख दुख आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,
विकसित रसाल मुस्क्याता है, कर-किसलय हिला बुलाता है।

हे वसन्त क्यों तू आता है?
तू आता है फिर जाता है।

किरण

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरजित किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती सी तूम कौन?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन?
उषा के चंचल मे अश्रान्त।

भला उस भोले मुख को छोड़,

और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा हैं नृत्य,
कौन देता सम पर ताल?

कोकनद मधु धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उससे भूलोक?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक!

सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा –
सुन्दरी के कर का संकेत –
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत?

चपल! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमनमन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य-सा,
वृक्ष-पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा हैं,
अमृत सदृश नश्वर काया में।

अखिल विश्व के कोलाहल से,
दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में,
कौन जंगली बैठा बन में।

शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी,
धनुष भग्न सब छिन्न जाल हैं।
वंशी नीरव पड़ी धूल में,
वीणा का भी बुरा हाल हैं।

किसके तममय अन्तर में,
झिल्ली की इनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती,
चपला ले विश्राम सो रही।

किसके अन्तःकरण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता;
फिर तुषार की वर्षा होती ।

विषयशून्य किसकी चितवन हैं,
ठहरी पलक अलक में आलस!
किसका यह सूखा सुहाग हैं,
छिना हुआ किसका सारा रस।

निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा हैं स्थान धरा में,
अपने ही चरणों में गिरता।

किसी हृदय का यह विषाद हैं,
छेड़ो मत यह सुख का कण हैं।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण हैं ॥

बालू की बेला

आँख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे? किसी विजन में? – न हो भीड़ का जब रेला॥
दूर! कहाँ तक दूर? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ मे विरथ दौड़कर खेल न था मैने खेला।

कुछ कहते हो 'कुछ दुःख नही', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस किसको किसने झेला?
आने दो मीठी मीड़ो से नूपुर की झनकार, रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला!
निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू का वेला॥

चिह्न

इन अनन्त पथ के कितने ही, छोड़ छोड़ विश्राम-स्थान,
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान।

मानवता के निर्जन बन मे जड़ थी प्रकृति शान्त था व्योम,
तपती थी मध्याह्न-किरण-सी प्राणों की गति लोम विलोम।

आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास,
दूर क्षितिज मे जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास।

द्रुतगति से था दौड़ लगाता, चक्कर खाता पवन हताश,
विह्वल-सी थी दीन वेदना, मुँह खोले मलीन अवकाश।

हृदय एक निःश्वास फेंककर खोज रहा था प्रेम-निकेत,
जीर्ण कांड़ वृक्षों के हँसकर रूखा-सा करते संकेत।

बिखरते चुकी थी अम्बरतल में सौरभ की शुचितम सुख धूल,
पृथ्वी पर थे विकल लोटते शुष्क पत्र मुरझाये फूल।

गोधूली की धूसर छवि ने चित्रपटी ली सकल समेट.
निर्मल चिति का दीप जलाकर छोड़ चला यह अपनी भेंट।

मधुर आँच से गला बहावेगा शैलों से निर्झर लोक,
शान्ति सुरसुरी की शीतल जल लहरी को देता आलोक।

नव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद,
स्वर्ण रत्न की तरल कांति, शिशु का स्मित या माता की गोद।

इसके तल के तम अंचल में इनकी लहरों का लघु भान,

मधुर हँसी से अस्त व्यस्त हो, हो जायेगी, फिर अवसान॥

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।

गिरि संकट के जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नही था उसमें मन की बात न कहता था।

इसे जाह्नवी-सी आदर दे किसने भेंट चढ़ाया हैं,
अंचल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया हैं।

जला करेगा वक्षस्थल पर वहा करेगा लहरी में,
नाचेगी अनुरक्त वीचियाँ रंचित प्रभा सुनहरी में,

तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति क्या उसको गान सुनावेगी।

देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन मे अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व समभागी हो।

किसी माधुरी स्मित-सी होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाते को॥

अर्चना

वीणे! पंचम स्वर में बज कर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम इस भवन में।
आश्रय ले मेरे वक्षस्थल में तनिक।
लज्जे! जा, बस अब न सुनूँगी एक भी –
तेरी बातों में से; तूने दुःख दिया,
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये।

यह कैसा संकोच, मन! तुझे क्या हुआ!
बड़ी बड़ी अभिलाषायें इश हृदय ने
संचित की थी इस छोटे भाण्डार में,
लज्ञावती लता सा होकर संकुचित –
जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।
स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिक –
लज्ञित है; प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह –
जिसमें वांछित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें ! सब व्यर्थ है।
बनो न इतने निर्दय सखे! प्रसन्न हो।
हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी दया।

तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम — यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।

बिखरा हुआ प्रेम

अरुणोदय में चंचल होकर, व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
मायामयी सुप्ति में सोकर, अति अधीर हो अर्धक्षेम से,
टुकड़े टुकड़े कर फेंका था जीवन का निगूढ आनन्द,
नील निशा के शून्य गगन में लो फैलाकर फिर छल छन्द,
बनकर तारा निकर मनोहर उदय हुआ वह उसी नियम से।
रिक्त हुए हम व्यर्थ फेंककर विकल हुए तम अतुल विषम से।

प्रणयी प्रणत बनूँ मैं क्योंकर, दुर्बलता निज समझ, क्षोभ से,
जीवन मदिरा कैसे रोकर, भरूँ पात्र में तुच्छ लोभ से -
हाय! मुझे निष्किञ्चन क्यों कर डाला रे! मेरे अभिमान,
वही रहा पाथेय, तुम्हारे इस अनन्त पथ का अनजान,
बूँद बूँद से सींची, पर ये, भीगेंगे न सकल अणु तुम से।

खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥

कब?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से सौरभ सूख रहा है आतप हैं;
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखुड़ियाँ बिखरावेगी?
लम्बी विश्व कथा में सुख की निद्रा-सी इन आँखों में –
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी छटा लखकर;
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेगी?
बढ़ उमंग-सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता;
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी?

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यों परिचित हो गये ? न थे जब चाहते-
हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था
स्वयं दिखा कर सुन्दर हृदय मिला दिया

दूध और पानी-सी; अब फिर क्या हुआ-
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते?
भरा हुआ था नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया?

शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल-
देकर तुम्हें। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु-धरणी सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी आशा कानन को यही?

चंचल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,

मेरी जीवन मरण समस्या हो गई।

डरते थे इसको, होते थे संकुचित

'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।'

असंतोष

हरित वन कुसुमित हैं द्रुम-वृन्द;

बरसता हैं मलयज मकरन्द।

स्नेह मय सुधा दीप हैं चन्द,

खेलता शिशु होकर आनन्द।

क्षुद्र ग्रह किन्तु सुख मूल; उसी में मानव जाता भूल।

नील नभ में शोभन विस्तार,

प्रकृति हैं सुन्दर, परम उदार।

नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ,

बात जँजती कुछ नहीं यथार्थ।

जहाँ सुख मिला न उसमें तृप्ति, स्वप्न-सी आशा मिली सुषुप्ति।

प्रणय की महिमा का मधु मोद,

नवल सुषमा का सरल विनोद,

विश्व गरिमा का जो था सार,

हुआ वह लघिमा का व्यापार।

तुम्हारा मुक्तामय उपहार हो रहा अश्रुकणों का हार।

भरा जी तुमको पाकर भी न,

हो गया छिछले जल का मीन।

विश्व भर का विश्वास अपार,

सिन्धु-सा तैर गया उस पार।

न हो जब मुझको ही संतोष, तुम्हारा इसमें क्या हैं दोष?

अनुनय

उसी स्मृति-सौरभ में मृगमन मस्त रहे

यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।

शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये।
हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिए।
क्रोध से, विषाद से, दया से पूर्व प्रीति ही से
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥

प्रियतम

क्यों जीवनधन! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र।
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कही॥
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया।
प्रेम नहीं, करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।
अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम।

क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम?

स्मृति को लिये हुए अन्तर में, जीवन कर देंगे निःशेष।

छोड़ा, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेष॥

कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।

रक्खो जब तक आँखों में, फिर और ढार पर नहीं ढरो॥

कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे।

पुतली बन कर रहे चमकते, प्रियतम! हम दृग में तेरे॥

कहो?

शिथिल शयन सम्भोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे,

प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यों होते हैं प्रियतम! ऐसे?

वाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुठ न कहा जाता,

गद्‌गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता॥

ऊँचे चढ़े हुए वीणा के तार मधुप से गूँज रहे,

पर्दा रखते है सुर पर वे मनमाने से बोल रहे।

जीवनधन! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
वाह्य वियोग, मिलन या मन को, इसका कारण कौन कहो?

निवेदन

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते है।
विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥
दौड़ दौड़ कर थका हुआ है, पड़ कर प्रेम-पिपासा में।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग-मरीचिका आशा में॥
मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत! दिखला जाओ।
अपनी आँखों के आँसू से इसको भी नहला जाओ॥
डरो नहीं, जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥

प्यास

हृदय की दारुण ज्वाला से,
हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखती प्यासी आँखें थी
रस भरी आँखों को मदघूर्ण॥
प्यास बढ़ती ही जाती थी,
बुझाने की इच्छा थी बड़ी।
दिया उन हाथों मे प्याला,
अचञ्चल चित्त हुआ उस घड़ी॥
राग रञ्जित थी वह पेया,
उसे पीते पीते रुक गये।
प्रश्न मेरा यह उनसे था,
पूछने से वह प्रमुदित हुए॥
नशीली आँखों सदृश कहो,
तुम्हारी ही, इसमें है नशा?
"गुलाबी हल्का सा" बोले,

स्तब्ध हो रही मोह की निशा॥

मौन थे सुनकर मेरा प्रश्न,

"सदा यह बनी रहेगी भली।"

कँटीला था गुलाब चैती,

उठी चटचटा उसी की कली॥

उषा आभास चन्द्रिका में,

पवन परिमल-परिपूरित सङ्ग॥

बढ़ रही थी प्राची में वह,

बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग॥

कहा व्याकुल हो मैंने भी,

तुम्हारे कोमल कर से वही –

चाहता पीना मैं प्रियतम,

नशा जिसका उतरे ही नहीं॥

हृदय की बात नवीन कली –

सदृश हम खोल कह चुके हाय!

फुल्ल मल्लिका सदृश वह भी,

चुप रहे जीवनधन मुसक्याय॥

पी! कहाँ?

डाल पर बोलता है पपीहा –
‘हो भला प्राणधन, तुम कहीं – ? हा!’
आ मिलो हो जहाँ।
पी! कहाँ? पी! कहाँ?

प्यास से मर रहे दीन चातक
क्यो बना चाहते प्राण-घातक?
श्यामघन! हो कहाँ?
पी! कहाँ? पी! कहाँ?

नभ-हृदय में घिरी मेघमाला
चञ्चला कर रही है उजाला॥
देख लूँ, हो कहाँ?
पी! कहाँ? पी! कहाँ?

जलमयी हो रही यह धरा है।

कण्ठ फिर भी न होता हरा है॥

प्यास में जल रहा।

पी! कहाँ? पी! कहाँ?

“प्यास कैसी तुम्हारी? पपीहा!

कम न होकर बढ़ी जा रही हा?”

लो, वही कह रहा –

पी! कहाँ? पी! कहाँ?

पाईंबाग

सरसों के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर।

गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने सुखला कर ॥

खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में।

परिमलपूरित पवन-कंठ से, लगने की अभिलाषा में॥

अतल सिन्धु में लगा लगा कर जीवन की बेड़ी बाजी।

व्यर्थ लगाने को डुब्बी हाँ, होगा कौन भला राजी॥
मिले नहीं जो वांछित मुक्ता अपना कंठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को!
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर विकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे॥
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबाग बना लोगे प्रिय! इस मन को आकर।

प्रत्याशा

मन्द पवन बह रहा अँधेरी रात हैं।
आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो –
स्थित हूँ, प्रत्याशा में मैं तो प्राणहीन।
शिथिल विपञ्ची मिली विरह संगीत से
बजने लगी उदास पहाड़ी रागिनी।
कहते हो-"उत्कंठा तेरी कपट हैं।"

नहीं नहीं उस धुँधले तारे को अभी-
आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन-धन! मैं देख रहा हूँ सत्य ही ।
दिखलाई पड़ता हैं जो तम-व्योम में,
हिचको मत निस्सङ्ग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वयं हट जायँगे –
वे सब, आओ, मत-संकोच करो यहाँ।
सुलभ हमारा मिलना हैं – कारण यही –
ध्यान हमारा नहीं तुम्हें जो हो रहा।
क्योंकि तुम्हारे हम तो करतलगत रहे
हाँ, हाँ, औरों की भी हो सम्वर्धना।
किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन!
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से।
हृदय हमारा नही हिलाने योग्य हैं।
चन्द्र-किरण-हिम-बिन्दु-मधुर-मकरन्द से
बनी सुधा, रख दी हैं हीरक-पात्र में।
मत छलकाओ इसे, प्रेम परिपूर्ण हैं ।

स्वप्नलोक

स्वप्नलोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा से पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।
देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये
कलियों की माला विरचित की थी कि, हाँ
जब तक तुम आओगे ये खिल जायँगी।
ये सब खिलने लगीं, न हमको ज्ञात था।
आँख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रञ्जित कोमल बादल नभ में छा गये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।
हाय कली थी एक हृदय के पास ही
माला में, वह गड़ने लगी, न खिल सकी
मैं व्याकुल हो उठा कि तुमको अंक में

खेलूँ, तुमने झोरी फेंकी सुमन की
मस्त हुई आँखें, सोने को जग पड़े
सुप्त सकल उद्वेग मधुरतम मोह में॥

दर्शन

जीवन-नाव अँधेरे अन्धड़ मे चली।
अद्भुत परिवर्तन यह कैसा हो चला।
निर्मल जल पर सुधा भरी है चन्द्रिका,
बिछल पड़ी, मेरी छोटी-सी नाव भी।
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम में –
गूँज रही हैं, परिमल पूरित पवन भी –
खेल रहा हैं जल लहरी के सङ्ग में।
प्रकृति भरा प्याला दिखलाकर व्योम में –
बहकाती हैं, और नदी उस ओर ही –
बहती हैं। खिड़की उस ऊँचे महल की –

दूर दिखाई देती हैं, अब क्यों रुके –
नौका मेरी, द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किन्तु किसी के मुख की छवि-किरणें घनी,
रजत रज्जु-सी लिपटी नौका से वहीं,
बीच नदी में नाव किनारे लग गई।
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा।

मिलन

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलों का स्वर विपञ्ची नाद भी
चन्द्रिका, मलयज पवन, मकरन्द औ'
मधुप माधविकाकुसुम से कुञ्ज में
मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे
आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ।

तुंगतरल तरंग ऐसी उठ रही –
शीतकर शत शत उदय होने लगे।
तारिकायें नील नभ में आज ये,
फूल की झालर बनी है शोभती।
गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहे,
अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही।
चन्द्र-कर पीयूष वर्षा कर रहा।
दृष्टि-पथ में सृष्टि है आलोकमय;
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।
हृदय-वीणा कर रही प्रस्तार अब,
तीव्र पञ्चम तान की उल्लास से।
बेसुरा पिक पा नहीं सकता कभी,
इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता।

आशालता

तुम्हारी करुणा ने प्राणेश!

बनाकर नव मनमोहन वेश॥

दीनता को अपनाया,

उसी से स्नेह बढ़ाया;

लता अज्ञात बढ़ चली साथ।

मिला था करुणा का शुभ हाथ॥

नित्य की सन्ध्या और प्रभात।

स्वर्णमय जब होता रवि गात॥

व्योम में रङ्ग खिलाया,

विश्व ने व्यर्थ नहाया,

स्वर्गघट में जल भर कर कान्त।

दीनता लाती थी अश्रान्त॥

दया का स्पर्श मात्र अभिराम।

बनाता उसे सुरभि का धाम॥

उसी जल से नहलाया,

मधुप गण को बुलवाया,

निछावर करते थे जो प्राण।

बिना फूलों के पाये घ्राण॥

बहुत दिन तक सिञ्चन का कार्य।

हुआ करता अविरल अनिवार्य॥

युगल ही अंकुर आया,

लता ने और न पाया,

गई करुणा भी एक दिन ऊब।

कहा अनखाकर उसने खूब॥

"तुम्हारी आशालता सिंचाव।

बहुत ले चुकी, न देती दाँव॥

सींचकर क्या फल पाया,

फूल भी हाथ न आया"

नील नीरद माला की दृष्टि।

दीनता की, करती थी वृष्टि॥

सुधासिंचन

बहुत दिन से था हृदय निराश;
और अब तो है समय नहीं।
व्यथा मैं कह दूँगा आज –
सुनो प्रियतम! रुक जाव यहीं॥
मचलता है यह मन, जो प्राण!
सम्हालूँगा मैं इसे नहीं।
कहे देता हूँ दूँगा छोड़ –
भाग्य पर, इसको जाय कहीं॥
तुम्हारा शीतल सुख – परिरम्भ,
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान,
आज वह बाल बराबर नहीं॥
स्फूर्ति से बदले सारी क्लान्ति
शान्ति में भ्रान्ति न रहे कही।
हृदय-क्षत मलयज से खिल जाय

सुमन भी समता पावे नहीं॥
रागिनी गावे तुङ्ग तरङ्ग
लहर सी, हृदय पयोधि यही
घटा से निकले बस नवचन्द्र;
सुधा से सींची जाय मही॥

तुम!

जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो!
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम
खेद भय रहित, अभेद अभिराम हो।
कारण तुम्हीं थे, अब कर्म हो रहे हो तुम्हीं,
धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो,
रमणीय आप महामोदमय धाम तो भी,
रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो?

बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान, अनुमान के भी
आये जो पतङ्ग तुम्हें देखने जले गये;
बलिहारी माधुरी अनन्त कमनीयता की,
रूपवाले लोटने को पैरों के तले गये।
शंका लगी होने किसी को तो कोई सपने सा
जपने लगा है आप भूल में चले गये;
छलने के लिए तो स्वाँग बहुरूपिए के
तुमने अनेक लिए तुमही छले गये।

सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरन्त सा अनूप है,
मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन
स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।
मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा; यह
'नहीं नहीं' करना भी 'हाँ' का प्रतिरूप है;
घूँघट की ओट में छिपा है भला कैसे कभी,
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है।

हो कर अतृप्त तुम्हें देखने को नित्य नया
रूप दिये देता हूँ पुराना छोड़ने के लिए;
तुम्हें भी न होता परितोष कभी मेरे जान,
बनते ही जाते हो रहस्य जोड़ने के लिए।
कंज कामना की आँखें आलस से बन्द सोईं
चन्द उपहारों से भी मुँह मोड़ने के लिए,
बन्धन में बँधता प्रतिज्ञा की प्रतीति किये,
तुम हँस देते, बस, उसे तोड़ने के लिए।

दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो;
थके श्रमी जीवों के पसीने भरे सीने लग
जीने को सफल करने के लिए सोते चलो।
भूले, भोले बालकों के इस विश्व खेल में भी
लीला ही से हार और श्रम सब खोते चलो;
सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुषमा से मुख
सेवा सबकी हो, तो प्रसन्न तुम होते चलो।

हृदय का सौंदर्य

नदी की विस्तृत वेला शान्त,
अरुण मंडल का स्वर्ण विलास;
निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।

एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीड़ा के सब छंद;
सृष्टि में सब कुछ हैं अभिराम,
सभी में हैं उन्नति या ह्रास।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य;
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका-सा मोहन मृदुहास।

अरुण हो सकल विश्व अनुराग

करुण हो निर्दय मानव चित्त;
उठे मधु लहरी मानस में
कूल पर मलयज का हो वास।

प्रार्थना

देख लो अपनी आँखों से,
दृश्य रमणीय रूप का आज।
प्राणधन! सच तुमको है शपथ,
तुम्हारा यह अभिनव है साज॥
उषा सौंदर्यमयी मधु कान्ति
अरुण यौवन का उदय विशेष।
सहज सुषमा मदिरा से मत्त,
अहा! कैसा नैसर्गिक वेश!
देखकर जिसे एक ही बार,
हो गए हम भी है अनुरक्त।

देख लो तुम भी यदि निज रूप,

तुम्हीं हो जाओगे आसक्त!

दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया –

सृष्टि ने मधु धारा में स्नान।

बह चली मंदाकिनी मरन्द –

भरी, करती कोमल कल गान॥

प्रार्थना अन्तर की मेरी –

यही जन्मान्तर की हो उक्ति।

“जन्म हो, निरखूँ तब सौंदर्य

मिले इंगित से जीवनमुक्ति॥"

होली की रात

बरसते हो तारों के फूल

छिपे तुम नील पटी में कौन?

उड़ रही है सौरभ की धूल

कोकिला कैसे रहती मीन।

चाँदनी धुली हुई हैं आज
बिछलते है तितली के पंख।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती हैं तान असंख।

तरल हीरक लहराता शान्त
सरल आशा-सा पूरित ताल।
सिताबी छिड़क रहा विधु कान्त
बिछा हैं सेज कमलिनी जाल।

पिये, गाते मनमाने गीत
टोलियाँ मधुपों की अविराम।
चली आती, कर रहीं अभीत
कुमुद पर बरजोरी विश्राम।

उड़ा दो मत गुलाल-सी हाय
अरे अभिलाषाओं की धूल।

और ही रंग नही लग लाय
मधुर मंजरियाँ जावें झूल॥

विश्व में ऐसा शीतल खेल
हृदय में जलन रहे, क्या हात!
स्नेह से जलती ज्वाला झेल
बना ली हाँ, होली की रात॥

झील में

झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-बनशाली तट की कान्त।
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥

तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रिका में मिलता ध्वान्त।

गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥

निभृत था, पर हम दोनों में
वृत्तियाँ रह न सकी फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे –
"मिलेगा कब ऐसा एकान्त?"

हाथ में हाथ लिया मैंने,
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल
हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त॥

झील, झाईं, नभ, शशि, तारा,
विटप इंगित करते अश्रान्त।
तारिका तरल झलकती थी,
अष्टमी के शारदशशि प्रान्त॥

रत्न

मिल गया था पथ में वह रत्न।

किन्तु मैने फिर किया न यत्न॥

पहल न उसमे था बना,

चढ़ा न रहा खराद।

स्वाभाविकता मे छिपा,

न था कलंक विषाद॥

चमक थी, न थी तड़प की झोंक।

रहा केवल मधु स्निग्धालोक॥

मूल्य था मुझे नही मालूम।

किन्तु मन लेता उसको चूम॥

उसे दिखाने के लिए,

उठता हृदय कचोट।

और रुके रहते सभय,

करे न कोई खोट॥

बिना समझे ही रख दे मूल्य।
न था जिस मणि के कोई तुल्य॥
जान कर के भी उसे अमोल।
बढ़ा कौतूहल का फिर तोल॥

मन आग्रह करने लगा,
लगा पूछने दाम।
चला आँकने के लिए,
वह लोभी बे काम॥

पहन कर किया नहीं व्यवहार।
बनाया नही गले का हार॥

कुछ नहीं

हँसी आती हैं मुझको तभी,
जब कि यह कहता कोई कहीं –
अरे सच, वह तो हैं कंगाल,
अमुक धन उसके पास नहीं।

सकल निधियों का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास,
उसे आवश्यकता ही नही।

और तुम लेकर फेंकी वस्तु,
गर्व करते हो मन में तुच्छ,
कभी जब ले लेगा वह उसे,
तुम्हारा तब सब होगा नहीं।

तुम्हीं तब हो जाओगे दीन,
और जिसका सब संचित किए,
साथ बैठा है सब का नाथ,
उसे फिर कमी कहाँ की रही?

शान्त रत्नाकर का नाविक,
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदु हास,
और तुम कहते हो कुछ नहीं।

आदेश

कौन कहता है कानों, में
किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे
इसी में बनते है विद्वान॥

शुद्ध मानस की लहरी लोल,
पंक्तियाँ पावन लिखी विचित्र।
छोड़ मसता पढ़ ले इसको,
यही है शुभ आदेश महान॥

तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहि-मित का यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन-घट में,
द्वन्द्व का विष मत कर तू पान॥

प्रार्थना और तपस्या क्यों?
पुजारी किसकी है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता है निज अपमान॥

दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तव सम्मान॥

देवबाला

दूर कृत्रिमते! यहाँ मत आ री,
यहाँ एकत्रित सरलता सारी।
न छूना इसको नव कुहक शीला,
चंचले! यह तो विमल विधु लीला॥

सात रंगों का इन्द्रधनुष क्या है,
छिपेगा क्षण में, कभी ठहरा है।
नई कोंपल पर किरण माला सी,
खेलती है यह देवबाला सी॥

सुवासित जल भी बिगड़ जाता है,
सुमन सौरभ क्या न उड़ जाता है।
शिशिर बूँदों में चमक रहती है,
ताप रविकर का न सह सकती है॥

सुरसरी की यह विमल धारा है,

स्नेह नभ की यह नवल तारा है।
शील निधि का यह सुढर मोती है,
मधुरिमा इतनी कहाँ होती है?

कसौटी

तिरस्कार कालिमा कलित हैं,
अविश्वास-सी पिच्छल हैं।
कौन कसौटी पर ठहरेगा?
किसमें प्रचुर मनोबल है?

तपा चुके हो विरह वह्नि में,
काम जँचाने का न इसे।
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम!
तुमको शंका केवल है॥

बिका हुआ है जीवन धन यह

कब का तेरे हाथों में।
बिना मूल्य का, हैं अमूल्य यह
ले लो इसे, नही छल हैं।

कृपा कटाक्ष अलम् हैं केवल,
कोरदार या कोमल हो।
कट जावे तो सुख पावेगा,
बार-बार यह विह्वल हैं॥

सौदा कर लो बात मान लो,
फिर पीछे पछता लेना।
खरी वस्तु हैं, कहीं न इसमें
बाल बराबर भी बल हैं ॥

अतिथि

हृदय गुफा थी शून्य,

रहा घर सूना।

इसे बसाऊँ शीघ्र,

बढ़ा मन दूना॥

अतिथि आ गया,

नहीं पहचाना।

हुए नही पद शब्द,

न मैने जाना ॥

हुआ बड़ा आनन्द,

बसा घर मेरा।

मन को मिला विनोद,

कर लिया घेरा॥

उसको कहते 'प्रेम'

अरे अब जाना।

लगे कठिन नख रेख,

तभी पहचाना॥

अतिथि रहा वह किन्तु
ना घर बाहर था।
लगा खेलने खेल,
अरे, नाहर था॥

सुधा में गरल

सुधा में मिला दिया क्यों गरल।
पिलाया तुमने कैसा तरल॥

माँगा होकर दीन,
कंठ सींचने के लिए;
गर्म झील का मीन,
निर्दय, तुमने कर दिया॥

सुना था तुम हो सुन्दर! सरल।
सुधा में मिला दिया क्यों गरल॥

राग रञ्जित सन्ध्या हो चली।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली॥

तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर में चन्द्र था।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये।

हमें जाने की आज्ञा मिली।
राज रञ्जित सन्ध्या हो चली॥

विजन बन, आधी रजनी गई।
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गई॥

थी मुझको अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गई कौमुदी –

राह में ही; वह भी है नई।

विजन बन आधी रजनी गई॥

उपेक्षा करना

किसी पर मरना यही तो दुःख है!
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है;
यही प्रार्थना हमारी।

हमारे उर में न सुख पाओगे;
मिला है किमको कहाँ जाओगे?
चपल यह चाल तुम्हारी।

स्वच्छ आलोकित दीप बलता है,
पंखयुत कीड़ा सतत जलता है,
वही है दशा हमारी।

मोह या बदला! कौन कह सकता,

प्रेम या पीड़ा! कौन सह सकता;
न हो यह दशा तुम्हारी।

जलन छाली की बड़ी सहता हूँ,
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ;
बड़ी हो दया तुम्हारी।

तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो;
तुम्हें है शपथ हमारी॥

वेदने ठहरो!

सुखद थी पीड़ा, हृदय की क्रीड़ा,
प्राण में भरी भयानक भक्ति।
मनोहर मुख था, न मुझको दुख था;
रही विप्रयोग में न विरक्ति।

वेदना मिलती, औषधी घुलती,
मिलन का स्वप्न कराता भान।
नवल निद्रा का, मधुर तन्द्रा का,
व्यथा आरम्भ, वही अवसान।

न मुझसे अड़ना, कहाँ का लड़ना;
प्राण है केवल मेरा अस्त्र।
वेदने ठहरो! कलह तुम न करो;
नहीं तो कर दूँगा निःशस्त्र॥

धूल का खेल

धूप थी कड़ी पवन था उष्ण;
धूलि की भी थी कमी नहीं।
भूल कर विश्व, खेल में व्यस्त;
रहे हम उस दिन कभी कहीं॥

विमल उल्लास, न वह कथनीय;
न बाधा उसमें कहीं रही।
न था उद्देश्य, न था परिणाम;
मिलेगा वह आनन्द कहीं॥

शरद की शान्त नदी के खेल
सदृश होता अनुभूत वही।
खेल का नाव जहीं ले जाय,
रुकावट तो थी कहीं नहीं॥

प्रलोभन पुञ्ज समादर सहित;
दिये थे तुमने कौन नहीं।
अंक में लिया, वक्ष था शीत
तुम्हारा, हिम से बढ़ा कहीं॥

उष्ण निश्वास हुआ सहसा;
तुम्हारा पहले रहा नहीं।
तुम्हारी गोद न अच्छी लगी;

उतरने को मचला तब ही॥

धूल का खेल, खेलने लगे;
किन्तु वह क्रीड़ा ही न रही।
बोझ हो गया, सरल आनन्द;
मिलेगा फिर अब हमें कहीं?

बिन्दु

रे मन!
न कर तू कभी दूर का प्रेम।
निष्ठुर ही रहना, अच्छा है, यही करेगा क्षेम॥

देख न,
यह पतझड़ बसन्त एकत्रित मिला हुआ संसार।
किसी तरह से उदासीन ही कट जाना उपहार॥

या फिर,

जिसे चाह तू, उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।

मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर॥

लेकिन

परदेशी की प्रीति उपजती अनायास ही आय।

नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूँ क्या हाय॥

आज इस घन की अँधियारी में,

कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी में?

हँस कर बिजली सी चमका कर हमको कौन रुलाता,

बरस रहे हैं ये दोनों दृग कैसे हरियाली में?

हृदय में छिप रहे इस डर से

उसको भी तो छिपा लिया था, नहीं प्रेम रस बरसे॥

लगे न स्नेह कभी इसको भी बिछल पड़े न सुपथ से।

मुक्त आवरण हो देखे न मनोहर कोई रथ से॥
पर कैसी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे।
हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे॥

सुमन, तुम कली बने रह जाओ,
ये भौंरे केवल रस-लोभी इन्हें न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते॥
फूल जाते किस आशा पर कहो न क्या फल पाते।
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम रस क्यों बरबस हो खोत।
कितनों ही को देखा तुम सा, हँसते है फिर रोते॥
सूखी पंखड़ियों को देखो, इन्हें भूल मत जाओ।
मिला विकसने का प्रसाद यह, सोचो मन में लाओ॥

अमा को करिये सुन्दर राका।
फैले नव प्रकाश जीवनधन! तव मुखचन्द्र-विभा का॥
मेरे अन्तर में छिप कर भी प्रकटे मुख सुषमा का।

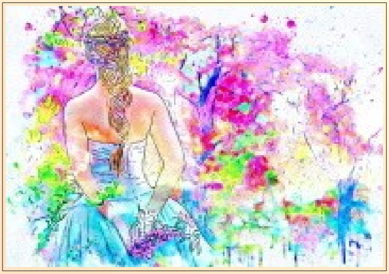
प्रबल प्रभंजन मलय – मरुत हो, फहरे प्रेम पताका॥

आया देखो विमल बसन्त।
समय सुहाया कैसा आया सुन्दर – तर श्रीमन्त।
मन-रसाल की मुकुल माल जीवन धन, कैसी आज –
कोमल बनी, अहा! देखो तो अच्छा बना समाज।
मलयानिल पर बैठे आओ धीरे धीरे नाथ।
हँसते आओ सुमन सभी खिल जायें जिसके साथ।
मत झुकना, हम स्वयं खड़े है माला लेकर राज!
कोकिल प्राण पंचमी स्वर-लहरी में गाता आज॥

●●●

जयशंकर प्रसाद

कानन-कुसुम



[हिन्दीकोश]

कानन-कुसुम

सूची

प्रभो!

विमल इन्दु की विशाल किरणें
प्रकाश तेरा बचा रही हैं
अनादि तेरी अनन्त माया
जगत् को लीला दिखा रही हैं

प्रसार तेरी दया का कितना
देखना हो तो देख सागर
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे
तरंगमालायें गा रही हैं

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना
वो देख सकता है चंद्रिका को
तुम्हारे हँसने कि धुन में नदियाँ
निनाद करती हि जा रही हैं
विशाल मन्दिर कि यामिनी में
जिसे निरखना हो दीपमाला

तो तारिकाओं कि ज्योति उसका

पता अनूठा बता रही हैं

प्रभो! प्रेममय प्रकाश तुम हो

प्रकृति-पद्मिनी के अंशुमाली

असीम उपवन के तुम हो माली

धरा बराबर जता रही है

जो तेरी होवे दया दयानिधि

तो पूर्ण होवे सकल मनोरथ

सभी ये कहते पुकार करके

यही तो आशा दिला रही है

वन्दना

जयति प्रेम-निधि! जिसकी करुणा नौका पार लगाती है

जयति महासंगीत! विश्व-वीणा जिसकी ध्वनि गाती है

कादम्बिनी कृपा की जिसकी सुधा-नीर बरसाती है
भव-कानन की धरा हरित हो जिससे शोभा पाती है
निर्विकार लीलामय! तेरी शक्ति न जानी जाती है
ओतप्रोत हो तो भी सबकी वाणी गुण-गुण गाती है
गद्गद्-हृदय-निःसृता यह भी वाणी दौड़ी जाती है
प्रभु! तेरे चरणों में पुलकित होकर प्रणति जताती है

नमस्कार

जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है
जिसके है आराम प्रकृति-कानन ही सारे
जिस मंदिर के दीप इन्दु, दिनकर औ' तारे
उस मंदिर के नाथ को, निरुपम निरमय स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व-गृहस्थ को

मंदिर

जब मानते है व्यापी जलभूमि में अनिल में
तारा-शंशाक में भी आकाश में अनल में
फिर क्यों ये हठ है प्यारे! मंदिर में वह नहीं है
वह शब्द जो 'नहीं' है, उसके लिए नहीं है

जिस भूमि पर हजारों है सीस को नवाते
परिपूर्ण भक्ति से वे उसको वहीं बताते
कहकर सहस्र मुख से जब है वही बताता
फिर मूढ़ चित्त को है यह क्यों नहीं सुहाता

अपने हि आत्मा को सब कुछ जो जानते है
परमात्मा में उसमें नहिं भेद मानते हो
जिस पंचतत्त्व से है यह दिव्य देह-मंदिर
उनमें से ही बना है यह भी तो देव-मंदिर

उसका विकास सुन्दर फूलों में देख करके
बनते हो क्यों मधुब्रत आनन्द-मोद भरके
इसके चरण-कमल से फिर मन को क्यों हटाते
भव-ताप-दग्ध हिय को चन्दन नहीं चढ़ाते

प्रतिमा हि देख करके क्यों भाल में है रेखा
निर्मित किया किसी ने इसको, यही है लेखा
हर-एक पत्थरों में वह मूर्ति ही छिपी है
शिल्पी ने स्वच्छ करके दिखला दिया, वही है

इस भाव को हमारे उसको तो देख लीजे
धरता है वेश वोही जैसा कि उसको दीजे
यों ही अनेक-रूपी बनकर कभी पुजाया
लीली उसी की जग में सबसे वही समाया

मस्जिद, पगोडा, गिरजा, किसको बनाया तूने
सब भक्त-भावना के छोटे-बड़े नमूने
सुन्दर वितान कैसा आकाश भी तना है

उसका अनन्त-मंदिर, यह विश्व ही बना है

करुण क्रन्दन

करुणा-निधे, यह करुण क्रन्दन भी जरा सुन लीजिये
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिये

हम मानते, हम है अधम, दुष्कर्म के भी छात्र है
हम है तुम्हारे, इसलिये फिर भी दया के पात्र है

सुख में न तुमको याद करता, है मनुज की गति यही
पर नाथ, पड़कर दुःख में किसने पुकारा है नहीं

सन्तुष्ट बालक खेलने से तो कभी थकता नहीं
कुछ क्लेश पाता याद पड़ जाते पिता-माता वहीं

संसार के इस सिन्धु में उठती तरंगें घोर है

तमसी कुहू की है निशा, कुछ सूझता नहिं छोर है

झंझट अनेकों प्रबल झंझा सदृश है अतिवेग में
है बुद्धि चक्कर में भँवरसी घूमती उद्वेग में

गुण जो तुम्हारा पार करने का उसे विस्मृत न हो
वह नाव मछली को खिलाने की प्रभो बसी न हो

हे गुणाधार, तुम्हीं बने हो कर्णाधार विचार
है दूसरा अब कौन, जैसे बने नाथ! सम्हार

ये मानसिक विप्लव प्रभो, जो हो रहे दिन-रात है
कुविचार-क्रूरों के कठिन कैसे कुटिल आघात है

हे नाथ, मेरे सारथी बन जाव मानस-युद्ध में
फिर तो ठहरने से बचेंगे एक भी न विरुद्ध में

महाक्रीड़ा

सुन्दरि प्राची. विमल उषा से अपना मुख धोने को है
पूर्णिमा की रात्रि का शशि अस्त अब होने को है

तारकों का निकर अपनी कान्ति सब खोने को है
स्वर्ण-जल से अरुण भी आकाश-पट धोने को है

गा रहे है ये विहंगम किसके आने की कथा
मलय-मारुत भी चला आता है हरने को व्यथा

चन्द्रिका हटने न पाई, आ गई ऊषा भली
कुछ विकसने सी लगी है कंज की कोमल कली

है लतायें सब खड़ी क्यों कुसुम की माला लिये
क्यों हिमांशु कपूर सा है तारिका-अवली लिये

अरुण की आभा अभी प्राची में दिखलाई पड़ी
कुछ निकलने भी लगी किरणों की सुन्दर सी लड़ी

देव दिनकर क्या प्रभा-पूरित उदय होने को है
चक्र के जोड़े कहो क्या मोदमय होने को है

वृत्त आकृत कुंकुमारण कञ्ज-कानन-मित्र है
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है

कल्पना कहती है, कुन्दक है महाशिशु-खेल का
जिसका है खिलवाड़ इस संसार में सब मेल का

हाँ, कहो, किस ओर खिंचते ही चले जाओगे तुम
क्या कभी भी खेल तजकर पास भी आओगे तुम

नेत्र को यों मीच करके भागना अच्छा नहीं
देखकर हम खोज लेंगे, तुम रहो चाहे कहीं

पर कहो तो छिपके तुम जाओगे क्यों किस ओर को
है कहाँ वह भूमि जो रक्खे मेरे चितचोर को

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते

अलि बने मकरन्द की मीठी झड़ी हो झेलते

गा रहे श्यामा ते स्वर में कुछ रसीले राग से
तुम सजावट देखते हो प्रकृति की अनुराग से

देके ऊषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी
भाल के कुंकुम-अरुण की दे दिया बिन्दी खरी

नित्य-नूतन रूप उसका हो बनाकर देखते
वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिलकर खेलते

करुणा-कुञ्ज

क्लान्त हुआ सब अंग शिथिल क्यों वेष है
मुख पर श्रम-सीकर का भी उन्मेष है
भारी बोझा लाद लिया न सँभार है
छल-छालों से पैर छिले न उबार है

चले जा रहे वेग भरे किस ओर को
मृग-मरीचिका तुम्हें दिखाती छोर को
किन्तु नहीं हे पथिक! वहाँ जल है नही
बालू के मैदान सिवा कुछ है नहीं

ज्वाला का यह ताप तुम्हें झला रहा
मनो-मुकुल मकरन्द-भरा कुम्हला रहा
उसके सिंचन-हेतु न यह उद्योग है
व्यर्थ परिश्रम करो न यह उपयोग है

कुसुम-वाहना प्रकृति मनोज्ञ वसन्त है
मलयज मारुत प्रेम-भरा छविवन्त है
खिली कुसुम की कली अलीगण घूमते

किन्तु तुम्हें विश्राम कहाँ है नाम को
केवल मोहित हुए लोभ से काम को
ग्रीष्मासान है बिछा तुम्हारे हृदय में
कुसुमाकर पर ध्यान नहीं इस समय में

अविरल आँसू-धार नेत्र से बह रहे
वर्षा-ऋतु का रूप नहीं तुम लख रहे
मेघ-वाहना पवन-मार्ग में विचरती
सुन्दर श्रम-लव-विन्दु धरो को वितरती

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं
तुम्हें सुघर ये दृश्य दिखाते है नहीं
शरद-शर्वरी शिशिर-प्रभंजन-वेग में
चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में

भ्रम-कुहेलिका से दृग-पथ भी भ्रान्त है
है पग-पग पर ठोकर, पर नहिं शान्त है
व्याकुल होकर, चलते हो क्यों मार्ग में
छाया क्या है नहीं कहीं इस मार्ग में

त्रस्त पथिक, देखा करुणा विश्वेश की
खड़ी दिखाती तुम्हें याद हृदयेश की
शीतातप की भीति सता सकती नहीं

दुख तो उसका पता न पा सकता कहीं

भ्रान्त शान्ति पथिकों का जीवन-मूल है
इसका ध्यान मिटा देना सब भूल है
कुसुमित मधुमय जहाँ सुखद अलिपुञ्ज है
शान्ति-हेतु वह देखो 'करुणा-कुञ्ज’ है

प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थी सो रही,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय भी हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से

अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)–

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें,
खुली आँख, आनन्द-हृदय दिखला दिया
मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँजके,
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा

वर्षा होने लगी कुसुम-मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द में,
कैसी छवि ने बाल अरुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग-रञ्जित किया

सद्यःस्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ में,
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया,
विश्व विमल आनन्द भवन-सा बन रहा
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था

नव वसंत

पूर्णिमा की रात्रि सुषमा स्वच्छ सरसाती रही
इन्दु की किरणें सुधा की धार बरसाती रही
युग्म याम व्यतीत है आकाश तारो से भरा
हो रहा प्रतिबिम्ब पूरित रम्य यमुना-जल हरा

कूल पर का कुसुम-कानन भी महाकमनीय है
शुभ्र प्रासादावली की भी छटा रमणीय है
है कहीं कोकिल सघन सहकार को कूजित किये
और भी शतपत्र को मधुकर कहीं गुंजित किये

मधुर मलयानिल महक की मौज में मदमत्त है
लताललिता से लिपटकर ही महान प्रमत्त है
क्यारियों के कुसुम-कलियों को कभी खिझला दिया
सहज झोंके से कभी दो डाल को हि मिला दिया

घूमता फिरता वहाँ पहुँचा मनोहर कुञ्ज में

थी जहाँ इक सुन्दरी बैठी महा सुख-पुञ्ज में
धृष्ट मारुत भी उड़ा अञ्चल तुरत चलता हुआ
माधवी के पत्र-कानों को सहज मलता हुआ

ज्यों उधर मुख फेरकर देखा हटाने के लिये
आ गया मधुकर इधर उसको सताने के लिये
कामिनी इन कौतुकों से कब बहलने ही लगी
किन्तु अन्यमनस्क होकर वह टहलने ही लगी

ध्यान में आया मनोहर प्रिय-वदन सुख-मूल वह
भ्रान्त नाविक ने तुरन्त पाया यथेप्सित कूल वह
नील नीरज नेत्र का तब तो मनोज्ञ विकास था
अंग-परिमल-मधुर-मारुत का महान विलास था

मंजरी सी खिल गई सहकार की बाला वही
अलक-अवली हो गई सुमिलिन्द की माला वही
शान्त हृदयाकाश स्वच्छ वसंत-राका से भरा
कल्पना का कुसुम-कानन काम्य कलियों से भरा

चुटकियाँ लेने लगीं तब प्रणय की कोरी कली
मंजरी कम्पित हुई सुन कोकिला की काकली
सामने आया युवक इक प्रियतमे! कहता हुआ
विटप-बाहु सुपाणि-पल्लव मधुर प्रेम जता छुआ

कुमुद विकसित हो गये जब चन्द्रमा वह सज उठा
कोकिला-कलरव समान नवीन नूपुर बज उठा
प्रकृति और वसंत का सुखमय समागम हो गया
मंजरी रसमत्त मधुकर-पुञ्ज का क्रम हो गया

सौरभित सरजित युगल एकत्र होकर खिल गये
लोल अलकावलि हुई मानो मधुव्रत मिल गये
श्वास मलयज पवन सा आनन्दमय करने लगा
मधुर मिश्रण युग-हृदय का भाव रस भरने लगा

दृश्य सुन्दर हो गये, मन में अपूर्व विकास था
आन्तरिक औ' बाह्य सबसे नव वसंत-विलास था

मर्म-कथा

प्रियतम! वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए
प्रेम-कंज-किजल्क शुष्क कैसे हुए
हम! तुम! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ
हा हा प्राण-अधार शत्रु कैसे हुआ
कहें मर्म-वेदना दूसरे से अहो—
"जाकर उससे दुःख कथा मेरी कहो"
नहीं कहेंगे, कोप सहेंगे धीर हो
दर्द न समझो, क्या इतने बेपीर हो
चुप रहकर कह दूँगा मैं सारी कथा
बीता है, हे प्राण! नई जितनी व्यथा
मेरा चुप रहना बुलवावेगा तुम्हें
मैं न कहूँगा, वह समझावेगा तुम्हें
जितना चाहो, शान्त बनो, गम्भीर हो
खुल न पड़ो, तब जानेंगे, तुम धीर हो
रूखे ही तुम रहो, बूँद रसी की झरें

हम तुम जब है एक, लोग बकते फिरें

हृदय-वेदना

सुनो प्राण-प्रिय, हृदय-वेदना विकल हुई क्या कहती है
तब दुःसह यह विरह रात दिन जैसे सुख से सहती है
मैं तो रहता मस्त रात दिन पाकर यही मधुर पीड़ा
वह होकर स्वच्छन्द तुम्हारे साथ किया करती क्रीड़ापूर्ण

हृदय-वेदना मधुर मूर्त्ति तब सदा नवीन बनाती है
तुम्हें न पाकर भी छाया में अपना दिवस बिताती है
कभी समझकर रुष्ट तुम्हें वह करके विनय मनाती है
तिरछी चितवन भी पा करके तुरत तुष्ट हो जाती है

जब तुम सदय नवल नीरद से मन-पट पर छा जाते हो
पीड़ास्थल पर शीतल बनकर तब आँसू बरसाते हो

मूर्त्ति तुम्हारी सदय और निर्दय दोनों ही भाती है
किसी भाँति भी पा जाने पर तुमको यह सुख पाती है

कभी कभी हो ध्यानवंचिता बड़ी विकल हो जाती है
क्रोधित होकर फिर यह हमको प्रियतम! बहुत सताती है
इस तुम्हारा एक सहारा, किया करो इससे क्रीड़ा
मैं तो तुमको भूल गया हूँ पाकर प्रेममयी पीड़ा

ग्रीष्म का मध्याह्न

विमल व्योम में देव दिवाकर अग्नि-चक्र से फिरते हैं
किरण नहीं, ये पावक के कण जगती-तल पर गिरते हैं
छाया का आश्रय पाने को जीव-मंडली गिरती है
चण्ड दिवाकर देख सती-छाया भी छिपती फिरती है
प्रिय वसंत के विरह-ताप से धरा तप्त हो जाती है
तृष्णा होकर तृषित प्यास-ही-प्यास पुकार मचाती है

स्वेद धूलि-कण धूप-लपट के साथ लिपटकर मिलते है
जिनके तार व्योम से बँधकर ज्वाला-ताप उगिलते हैं
पथिक देख आलोक वही फिर कुछ भी देख न सकता है
होकर चकित नहीं आगे तब एक पैर चल सकता है
निर्जन कानन में तरुवर जो खड़े प्रेत से रहते है
डाल हिलाकर हाथों से वे जीव पकड़ना चाहते है
देखो, वृक्ष शाल्मली का यह महा भयावह कैसा है
आतप-भीत विहङ्गम-कुल का क्रन्दन इस पर कैसा है
लू के झोंके लगने से जब डाल सहित यह हिलता है
कुम्भकर्ण सा कोटर-मुख से अगणित जीव उगिलता है
हरे हरे पत्ते वृक्षों के तापित हो मुरझाते है
देखादेखी सूख सूखकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं
धूल उड़ाता प्रबल प्रभंजन उनको साथ उड़ाता है
अपने खड़ खड़ शब्दों को भी उनके साथ बढ़ाता है

जलद-आह्वान

शीघ्र आ जाओ जलद! स्वागत तुम्हारा हम करे
ग्रीष्म से सन्तप्त मन के ताप को कुछ कम करे
हे धरित्री के उरस्थल में जलन तेरे बिना
शून्य था आकाश तेरे ही जलद! घेरे विना
मानदण्ड समान जो संसार को है मापता
लूह की पंचाग्नि जो दिन रात ही है तापता
जीव जिनके आश्रमों की सी गुहा में मोद से
वास करते, खेलते है बालवृन्द विनोद से
पत्रहीना वल्लरी जैसी जटा बिखरी हुई
उतरीय समान जिन पर धूप है निखरी हुई
शैल ले साधक सदा जीवन-सुधा को चाहते
ध्यान में काली घटा के नित्य ही अवगाहते
धूलिधूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिये
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिये
जल रही छाती, तुम्हारी प्रेम-वारि मिला नहीं

इसलिए उसका मनोगत-भाव-फूल खिला नहीं
नेत्र-निर्झर सुख-सलिल से भरें, दुःख सारे भगें
शीघ्र आ जाओ जलद! आनन्द के अंकुर उगें

भक्ति योग

दिननाथ अपने पीत कर से थे सहारा ले रहे
उस श्रृंग पर अपनी प्रभा मलिना दिखाते ही रहे
वह रूप पतनोन्मुख दिवाकर का हुआ पीला अहो
भय और व्याकुलता प्रकट होती नहीं किसकी कहो

जिन पत्तियों पर रश्मियाँ आश्रय ग्रहण करती रही
वे पवन ताड़ित हो सदा ही दूर को हटती रही
सुख के सभी साथी दिखाते है अहो संसार में
हो डूबता उसको बचाने कौन जाता धार में

कुल्या उसी गिरि-प्रान्त में बहती रही कलनाद से
छोटी लहरियाँ उठ रही थी आन्तरिक आह्लाद से
पर शान्त था वह शैल जैसे योगमग्न विरक्त हो
सरिता बनी माया उसे कहती कि 'तुम अनुरक्त हो'

वे वन्य वीरुध कुसुम परिपूरित भले थे खिल रहे
कुछ पवन के वश में हुए आनन्द से थे मिल रहे
देखो, वहाँ वह कौन बैठा है शिला पर, शान्त है
है चन्द्रमा सा दीखता आसन विमलविधु कान्त है

स्थिर दृष्टि है जल-बिन्दु-पूरित, भाव मानस का भरा
उन अश्रुकण में एक भी मन में न इस भव से डरा
वह स्वच्छ शरद-ललाट चिन्तित सा दिखाई दे रहा
पर एक चिन्ता थी वही जिसको हृदय था दे रहा

था बद्ध-पद्मासन, हृदय अरविन्द सा था खिल रहा
वह चिन्त्य मधुकर भी मधुर गुंजार करता मिल रहा
प्रति क्षण लहर ले बढ़ रहे थे भाव-निधि में वेग से
इस विश्व के आलोकमणि की खोज में उद्वेग से

प्रति श्वास आवाहन किया करता रहा उस इष्ट को
जो स्पर्श कर लेता कभी था पुण्य प्रेम अभीष्ट को
परमाणु भी सब स्तब्ध थे, रोमांच भी था हो रहा
था स्फीत वक्षस्थल किसी के ध्यान में होता रहा

आनन्द था उपलब्ध की सुख-कल्पना में मिल रहा
कुछ दुःख भी था देर होने से वही अनमिल रहा
दुष्प्राप्य की ही प्राप्ति में हाँ बद्ध जीवनमुक्त था
कहिये उसे हम क्या कहे, अनुरक्त था कि विरक्त था

कुछ काल तक वह जब रहा ऐसे मनोहर ध्यान में
आनन्द देती सुन पड़ी मंजीर की ध्वनि कान में
नव स्वच्छ सन्ध्या तारिका में से अभी उतरी हुई
उस भक्त के ही सामने आकर खड़ी पुतरी हुई

वह मूर्त्ति बोली– 'भक्तवर! क्यों यह परिश्रम हो रहा
क्यों विश्व का आनन्द मंदिर आह! तू यों खो रहा
यह छोड़कर सुख है पड़ा किसके कुहक के जाल में

सुख-लेख मैं तो पढ़ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल में

सुन्दर सुहृद सम्पति सुखदा सुन्दरी ले साथ में
संसार यह सब सौंपता है चाहता तव हाथ में
फिर भागते हो क्यों? न हटता यों कभी निर्भीक है
संसार तेरा कर रहा स्वागत, 'चलो सब ठीक है'

उन्नत हुए भ्रूयुग्म फिर तो बंक ग्रीवा भी हुई
फिर चढ़ गई आपादमस्तक लालिमा दौड़ी हुई
'है सत्य सुन्दरि! तव कथन, पर कुछ सुनो मेरी कहा'
आनन्द में विह्वल हुए से भक्त ने खुलकर कहा

जब ये हमारे है, भला फिर किसलिये हम छोड़ दें
दुष्प्राप्य को, जो मिल रहा सुखसूत्र उसको तोड़े दें
जिसके बिना फीके रहें सारे जगत-सुख-भोग ये
उसको तुरत ही त्याग करते को बताते लोग ये

उस ध्यान के दो बूँद आँसू ही हृदय-सर्वस्व हैं
जिन नेत्र में हो वे नहीं समझो कि वे ही निःस्व है

उस प्रेममय सर्वेश का सारा जगत् औ' जाति है
संसार ही है मित्र मेरा, नाम को न अराति है

फिर, कौन अप्रिय है मुझे, सुख दुःख यह सब कुछ नहीं
केवल उसी की है कृपा आनन्द और न कुछ कही
हमको रुलाता है कभी, हाँ, फिर हँसाता है कभी
जो मौज में आता जभी उसके, अहो करता तभी

वह प्रेम का पागल बड़ा आनन्द देता है हमें
हम रूठते उससे कभी, फिर भी मनाता है हमें
हम प्रेम-मतवाले बने, अब कौन मत-वाले बने
मत-धर्म सबको ही बहाया प्रेमनिधि-जल में घने

आनन्द-आसन पर सुधा-मन्दाकिनी में स्नात हो
हम और वह बैठे हुए है प्रेम-पुलकित-गात हो
यह देख ईर्ष्या हो रही है सुन्दरी! तुमको अभी
दिन बीतने दो दो कहाँ, फिर एक देखोगी कभी

फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमीं, हम वह हुए

तब तुम न मुझसे भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गये
यह सुन हँसी वह मूर्त्ति करुणा की हुई कादम्बिनी
फिर तो झड़ी सी लग गई आनन्द के जल की घनी

रजनी-गंधा

दिनकर अपनी किरण-स्वर्ण से रञ्जित करके
पहुँचे प्रमुदित हुए प्रतीची पास सँवर के
प्रिय-संगम से सुखी हुई आनन्द मानती
अरुण-राग-रञ्जित कपोल से शोभा पाती

दिनकर-कर से व्यथित बिताया नीरस वासर
वही हुए अति मुदित विहंगम अवसर पाकर
कोमल कलरव किया बड़ा आनंद मनाया
किया नीड़ में वास, जिन्हें निज हाथ बनाया

देखो मन्थर गति से मारुत मचल रहा है
हरी-हरी उद्यान-लता से बिछल रहा है
कुसुम सभी खिल रहे है भर मकरन्द मनोहर
करता है गुञ्जार पान करके रस मधुकर

देखो वह है कौन कुसुम कोमल डाली में
किये सम्पुटित वदन दिवाकर-किरणाली में
गौर अङ्ग को हरे पल्लवों बीच छिपाती
लज्ज़ावती मनोज्ञ लता का दृश्य दिखाती

मधुकर-गण का पुञ्ज नही इस ओर फिरा है
कुसुमित कोमल कुञ्ज बीच वह अभी घिरा है
मलयानिल मदमत्त हुआ इस ओर न आया
इसके सुन्दर सौरभ का कुछ स्वाद न पाया

तिमिर-भार फैलाती सी रजनी यह आई
सुन्दर चन्द्र अमन्द हुआ प्रकटित सुखदाई
स्पर्श हुआ उस लता लजीली से विधु-कर का
विकसित हुई प्रकाश किया निज दल मनहर का

देखो देखो, खिली कल अलि-कुल भी आया
उसे उड़ाया मारुत ने पराग जो पाया
सौरभ विस्तृत हुआ मनोहर अवसर पाकर
म्लान वदन विकसाया इस रजनी ने आकर

कुलबाला सी लजा रही थी जो वासर में
रूप अनुपम सजा रही है वह सुखसर में
मधुमय कोमल सुरभि पूर्ण उपवन जिससे है
तारागण की ज्योति पड़ी फीकी इससे है

रजनी में यह खिली रहेगी किस आशा पर
मधुकर का भी ध्यान नहीं है क्या पाया पर
अपने सदृश समूह तारिका का रजनी-भर
निर्निमेष यह देख रही है कैसे सुख पर

कितना है अनुराग भरा इस छोटे तन में
निशा-सखी का प्रेम भरा है इसके मन में
'रजनी-गंधा' नाम हुआ है सार्थक इसका

चित्त प्रफुल्लित हुआ प्राप्त कर सौरभ जिसका

सरोज

अरुण अभ्युदय से हो मुदित मन प्रशान्त सरसी में खिल रहा है
प्रथम पत्र का प्रसार करके सरोज अलि-गन से मिल रहा है
गगन में सन्ध्या की लालिमा से किया संकुचित वदन था जिसने
दिया न मकरन्द प्रेमियों को गले उन्ही के वो मिल रहा है
तुम्हारा विकसित वदन बताता, हँसे मित्र को निरख के कैसे
हृदय निष्कपट का भाव सुन्दर सरोज! तुझ पर उछल रहा है
निवास जल ही में है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते
'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे'– सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है
उन्हीं तरङ्गों में भी अटल हो, जो करना बिचलित तुम्हें चाहती
'मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो'– ये भाव तुममें अटल रहा है
तुम्हें हिलावे भी जो समीरन, तो पावे परिमल प्रमोद-पूरित
तुम्हारा सौजन्य है मनोहर, तरंग कहकर उछल रहा है

तुम्हारे केशर से ही सुगन्धित परागमय हो रहे मधुव्रत
'प्रसाद' विश्वेश का हो तुम पर यही हृदय से निकल रहा है

मलिना

नव-नील पयोधर नभ में काले छाये
भर भर कर शीतल जल मतवाले धाये
लहराती ललिता लता सुबाल सजीली
लहि संग तरुन के सुन्दर बनी सजीली
फूलों से दोनों भरी डालियाँ हिलती
दोनों पर बैठी खग की जोड़ी मिलती
बुलबुल कोयल है मिलकर शोर मचाते
बरसाती नाले उछल उछल बल खाते
वह हरी लताओं की सुन्दर अमराई
बन बैठी है सुकुमारी सी छविछाई

हर ओर अनूठा दृश्य दिखाई देता
सब मोती ही से बना दिखाई देता
वह सघन कुञ्ज सुख-पुञ्ज भ्रमर की आली
कुछ और दृश्य है सुषमा नई निराली
बैठी है वसन मलीन पहिन इक बाला
पुरइनपत्रों के बीच कमल का माला
उस मलिन वसन में अंगप्रभा दमकीली
ज्यों धूसर नभ में चन्द्रकला चमकीली
पर हाय! चन्द्र को घन ने क्यों है घेरा
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीब अँधेरा
उस रस-सरवर में क्यों चिन्ता की लहरी
चंचल चलती है भावभरी है गहरी
कल-कमल कोश पर अहो! पड़ा क्यों पाला
कैसी हाला ने किया उसे मतवाला
किस धीवर ने यह जाल निराला डाला
सीपी से निकली है मोती की माला
उत्ताल तरंग पयोनिधि से खिलती है
पतली मृणालवाली नलिनी हिलती है

नहिं वेग-सहित नलिनी को पवन हिलाओ
प्यारे मधुकर से उसको नेक मिलाओ
नव चंद अमंद प्रकाश लहे मतवाली
खिलती है, उसको करने दो मनवाली

जल-विहारणी

चन्द्रिका दिखता रही है क्या अनूपम सी छटा
खिल रही है कुसुम की कलियाँ सुगन्धों की घटा
सब दिगन्तों में जहाँ तक दृष्टि-पथ की दौड़ है
सुधा का सुन्दर सरोवर दीखता बेजोड़ है
रम्य कानन की छटा तट पर अनोखी देख लो
शान्त है, कुछ भय नहीं कुछ समय तक मत टलो
अन्धकार घना भरा है लता और निकुंज में
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाता है उन्हें सुख-पुंज में
शैल क्रीड़ा का बनाया है मनोहर काम ने

सुधाकण से सिक्त गिरिश्रेणी खड़ी है सामने
प्रकृति का मनमुग्धकारी गूँजता सा गान है
शैल भी सिर को उठाकर खड़ा हरिण समान है
गान में कुछ बीन की सुन्दर मिली झनकार है
कोकिला की कूक है या भृंग का गुंजार है
स्वच्छ-सुन्दर नीर के चंचल तरंगों में भली
एक छोटी-सी तरी मनमोहिनी आता चली
पंख फैलाकर विहंगम उड़ रहा आकाश में
या महा इक मत्स्य है, जो खेलता जल-वास में
चन्द्रमण्डल की सभा उस पर दिखाई दे रही
साथ ही में शुक्र की शोभा अनूठी ही रही
पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरंगों में हिले
मंजु सौरभ-पुंज युग ये कंज कैसे है खिले
या प्रशान्त विहायसी में शोभते है प्रात के
तारिका-युग शुभ्र है आलोक-पूरन गात के
या नवीना कामिनी की दीखती जोड़ी भली
एक विकसित कुसुम है तो दूसरी जैसे कली
जल-विहार विचारकर विद्याधरों की बालिका

आ गई है क्या? कि ये है इन्दु-कर की मालिका
एक की तो और हो बाँकी अनोखी आन है
मधुर-अधरों में मनोहर मन्द-मृदु मुसक्यान है
इन्दु में उस इन्दु के प्रतिबिम्ब के सम है छटा
साथ में कुछ नील मेघों की घिरी सी है घटा
नील नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे
बिना स्वातीविन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे
रूपसागर-मध्य रेखा-वलित कम्बुक माल है
कंज एक खिला हुआ है, युगल किन्तु मृणाल है
चारु-तारा-वलित अम्बर बन रहा अम्बर अहा
चन्द्र उसमें चमकता है, कुछ नहीं जाता कहा
कंज कर की उँगलियाँ हैं सुन्दरी के तार में
सुन्दरी पर एक कर है और ही कुछ तार में
चन्द्रमा भी मुग्ध मुख-मण्डल निरखता ही रहा
कोकिला का कंठ कोमल राग में ही भर रहा
इन्दु सुन्दर व्योम मध्य प्रसार कर किरणावली
क्षुद्र तरल तरंग को रजताभ करता है छली
प्रकृति अपने नेत्र-तारा से निरखती है छटा

घिर रही है घोर एक आनन्द-घन की सी घटा

ठहरो

वेगपूर्ण है अश्घ तुम्हारा पथ में कैसे
कहाँ जा रहे मित्र! प्रफुल्लित प्रमुदित जैसे
देखो, आतुर दृष्टि किये वह कौन निरखता
दयादृष्टि निज डाल उसे नहिं कोई लखता
'हट जाओ' की हुंकार से होता है भयभीत वह
यदि दोगे उसको सान्त्वना, होगा मुदित सप्रीत वह
उसे तुम्हारा आश्रय है, उसको मत भूलो
अपना आश्रित जान गर्व से तुम मत फूलो
कुटिला भृकुटी देख भीत कम्पित होता है
डरने पर भी सदा कार्य में रत होता है
यदि देते हो कुछ भी उसे, अपमान न करना चाहिये
उसको सम्बोधन मधुर से तुम्हें बुलाना चाहिये

तनक न जाओ मित्र! तनिक उसकी भी सुन लो
जो कराहता खाट धरे, उसको कुछ गुन लो
कर्कश स्वर की बोल कान में न सुहाती है
मीठी बोली तुम्हें नहीं कुछ भी आती है
उसके नेत्रों में अश्रु है, वह भी बड़ा समुद्र है
अभिमान-नाव जिसपर चढ़े वह तो अति ही क्षुद्र है
यह प्रणाम करता है, तुम नहिं उत्तर देते
क्यों क्या वह है जीव नहीं जो रुख नहिं देते
कैसा यह अभिमान, अहो कैसी कठिनाई
उसने जो कुछ भूल किया, वह भूलो भाई
उसका यदि वस्त्र मलीन है, पास बिठा सकते नहीं
क्या उज्वल वस्त्र नवीन इक उसे पिन्हा सकते नहीं
कुंचित है भ्रू-युगल बदन पर भी लाली है
अधर प्रस्फुरित हुआ म्यान असि से खाली है
डरता है वह तुम्हें देख, निज कर को रोको
उस पर कोई वार करे तो उसको टोको
है भीत जो कि संसार से, असि नहिं है उनके लिये
है उसे तुम्हारी सान्त्वना नम्र बनाने के लिये

बाल-क्रीड़ा

हँसते हो तो हँसो खूब, पर लोट न जाओ
हँसते-हँसते आँखों से मत अश्रु बहाओ
ऐसी क्या है बात? नहीं जो सुनते मेरी
मिली तुम्हें क्या कहो कहीं आनँद की ढेरी
ये गोरे-गोर गाल है लाल हुए अति मोद से
क्या क्रीड़ा करता है हृदय किसी स्वतंत्र विनोद से
उपवन के फल फूल तुम्हारा मार्ग देखते
काँटे ऊँचे नहीं तुम्हें हैं एक लेखते
मिलने को उनसे तुम दौड़े ही जाते हो
इसमें कुछ आनन्द अनोखा पा जाते हो
माली बूढा बक-बक किया करता है, कुछ बस नहीं
जब तुमने कुछ भी हँस दिया, क्रोध आदि सब कुछ नहीं
राजा हो या रंक एक ही सा तुमको है

स्नेह-योग्य है वही हँसाता जो तुमको है
मान तुम्हारा महामानियो से भारी है
मनोनीत जो बात हुई तो सुखकारी है
वृद्धों की गल्पकथा कभी होती जब प्रारम्भ है
कुछ सुना नहीं तो भी तुरत हँसने का आरम्भ है

कोकिल

नया हृदय है, नया समय है, नया कुंज है
नये कमल-दल-बीच नया किंजल्क-पुंज है
नया तुम्हारा राग मनोहर श्रुति सुखकारी
नया कण्ठ कमनीय, वाणि वीणा-अनुकारी
यद्यपि है अज्ञात ध्वनि कोकिल! तेरी मोदमय
तो भी मन सुनकर हुआ शीतल, शांत विनोदमय
विकसे नवल रसाल मिले मदमाते मधुकर
आलबाल मकरन्द-विन्दु से भरे मनोहर

मंजु मलय-हिल्लोल हिलाता है डाली को
मीठे फल के लिये बुलाता जो माली को
बैठे किसलय-पुंज में उसके ही अनुराग से
कोकिल क्या तुम गा रहे, अहा रसीले राग से
कुमुद-बन्धु उल्लास सहित है नभ में आया
बहुत पूर्व से दौड़ा था, अब अवसर पाया
रुका हुआ है गगन-बीच इस अभिलाषा से
ले निकाल कुछ अर्थ तुम्हारी नव-भाषा से
गाओ नव उत्साह से, रुको न पल-भर के लिये
कोकिल! मलयज पवन में भरने को स्वर के लिये

सौन्दर्य

नील नीरद देखकर आकाश में
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है

क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है

क्या हुआ जो देखकर कमलावली
मत्त होकर गूँजती भ्रमरावली
कंटकों में जो खिला यह फूल है
देखते ही क्यों हृदय अनुकूल है

है यही सौन्दर्य में सुषमा बड़ी
लौह-हिय को आँच इसकी ही कड़ी
देखने के साथ ही सुन्दर बदन
दीख पड़ता है सजा सुखमय सदन

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ
प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ
रस हुआ रसना में उसके बोलकर
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर

लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को
देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को

किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौन्दर्य है
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है

जो पथिक होता कभी इस चाह में
वह तुरत ही लुट गया इस राह में
मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी

देख लो जी भर इसे देखा करो
इस कमल से चित्त पर रेखा करो
लिखते-लिखते चित्र वह बन जायगा
सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायगा

एकान्त में

आकाश श्रीसम्पन्न था, नव नीरदों से था घिरा

संध्या मनोहर खेलती थी, नील पट तम का गिरा
यह चंचला चपला दिखाती थी कभी अपनी कला
ज्यों वीर वारिद की प्रभामय रत्नवाली मेखला
हर ओर हरियाली विटप-डाली कुसुम से पूर्ण है
मकरन्दमय, ज्यों कामिनी के नेत्र मद से घूर्ण है
यह शैल-माला नेत्र-पथ के सामने शोभा भली
निर्जर प्रशान्त सुशैल-पथ में गिरी कुसुमों की कली
कैसी क्षितिज में है बनाती मेघ-माला रूप को
गज, अश्व, सुरभी दे रही उपहार पावस भूप को
यह शैल-शृङ्ग विराग-भूमि बना सुवारिद-वृन्द की
कैसी झड़ी सी लग रही है स्वच्छ जल के बिन्दु की
स्रोतस्विनी हरियालियों में कर रही कलरव महापुरुष
ज्यों हरे घूँघट-ओट में है कामिनी हँसती अहा
किस ओर से यह स्रोत आता है शिखर में वेग से
जो पूर्ण करता वन कणों से हृदय को आवेग से
अविराम जीवन-स्रोत-सा यह बन रहा है शैल पर
उद्देश्य-हीन गँवा रहा है समय को क्यों फैलकर
कानन-कुसुम जो है विकसते स्वच्छ शीतल नीर से

किस कार्य के है वे भला पूछो किसी मति-धीर से
उतुङ्ग जो यह शृङ्ग है उस पर खड़ा तरुराज है
शाखावली की है महा सुषमा सुपुष्प-समाज है
होकर प्रमत्त खड़ा हुआ है यह प्रभञ्जन-वेग में
हाँ! झूमता है चित्त के आमोद के आवेग में
यह शून्यता बन की बनी बेजोड़ पूरी शान्ति से
करुणा कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति से
चल चित्त चञ्चल वेग को तत्काल करता धीर है
एकान्त में विश्रान्त मन पाता सुशीतल नीर है
निस्तब्धता संसार की उस पूर्ण से है मिल रही
पर जड़ प्रकृति सब जीव में सब ओर ही अनमिल रही

दलित कुमुदिनी

अहो, यही कृत्रिम क्रीड़ासर-बीच कुमुदिनी खिलती थी
हरे लता-कुंजों की छाया जिसको शीतल मिलती थी

इन्दु-किरण की फूलछड़ी जिसका मकरन्द गिराती थी
चण्ड दिवाकर की किरणें भी पता न जिसका पाती थी
रहा घूमता आसपास में कभी न मधुर मृणाल छुआ
राजहंस भी जिस सुन्दरता पर मोहित सा मत्त हुआ
जिसके मधुर पराग-अन्ध हो मधुप किया करते फेरा
मृदु चुम्बन-उल्लास भरी लहरी का जिस पर था घेरा
शीत पवन के मधुर स्पर्श से सिहर उठा करती थी जो
छोटी-छोटी स्वर्ण-मछलियों का जिस पर रहता पहरा
स्वच्छ आन्तरिक प्रेम-भाव का रङ्ग चढा जिस पर गहरा
जिसका मधुर मरन्द-स्रोत भी उछल-उछल मिलता जल में
सौरभ उसका फैलाता था रम्य सरोवर निर्मल में
जिसका मधुर विकास हृदय को अहो मुग्ध कर देता था
सरज पीत केसर भी खिलकर भव्य भाव भर देता था
किसी स्वार्थी मतवाले हाथी से हा! पर दलित हुई
वही कुमुदिनी, ग्रीष्मताप तापित रज में परिमिलित हुई
छिन्नपत्र मकरन्दहीन हो गई न शोभा प्यारी है
पड़ी कण्टकाकीर्ण मार्ग में कालचक्र गति न्यारी है

निशीथ-नदी

विमल व्योम में तारा-पुञ्ज प्रकट हो करके
नीरव अभिनय कहो कर रहे है ये कैसा
प्रेमी के दृगतारा से ये निर्म्मिमेष हैं
देख रहे से रूप अलौकिक सुन्दर किसका
दिशा, धरा, तरु-राजि सभी ये चिन्तित से है
शान्त पवन स्वर्गीय स्पर्श से सुख देता है
दुखी हृदय में प्रिय-प्रतीति की विमल विभा सी
तारा-ज्योति मिली है तम में, कुछ प्रकाश है
कूल युगल में देखो कैसी यह सरिता है
चारों ओर दृश्य सब कैसे हरे भरे है
बालू भी इस स्नेहपूर्ण जल के प्रभाव से
उर्वर है हो रहे, करारे नहीं काटते
पंकिल करते नहीं स्वच्छशीला सरिता को
तरुगण अपनी शाखाओं से इङ्गित करके

उसे दिखाते और मार्ग, वह ध्यान न देकर
चली जा रही है अपनी ही सीधी धुन में
उसे किसी से कुछ न द्वेष है, मोह भी नहीं
उपल-खण्ड से टकराते का भाव नहीं है
पंकिल या फेनिल होना भी नहीं जानती
पर्ण-कुटीरों को न बहाती भरी वेग से
क्षीणस्रोत भी नहीं हुई खर ग्रीष्म-ताप से
गर्जन भी है नहीं, कहीं उत्पात नहीं है
कोमल कल-कलनाद हो रहा शान्ति-गीत सा
कब यह जीवन-स्रोत मधुर ऐसा ही होगा
हृदय-कुमुद कब सौरभ से यो विकसित होकर
पूर्ण करेगा अपने परिमल से दिगंत को
शांति, चित्त को अपने शीतल लहरों से कब
शांत करेगी हर लेगी कब दुःख-पिपासा

विनय

बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन काम
शंका रहे न मन में नाथ
रहो हरदम तुम मेरे साथ
अभय दिखला दो अपना हाथ
न भूले कभी तुम्हारा नाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

मिटा दो मन की मेरे पीर
करा दो कर्म देव अब धीर
पिला दो स्वच्छ प्रेममय नीर
बने मति सुन्दर लोक ललाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

काट दो ये सारे दुःख-द्वन्द्व
न आवे पास कभी छल-छन्द

मिलो अब आके आनँदकन्द
रहें तव पद में आठो याम
बना लो हृदय-बीच निज धाम
कहो हमको प्रभु पूरन-काम

तुम्हारा स्मरण

सकल वेदना विस्मृत होती
स्मरण तुम्हारा जब होता
विश्वबोध हो जाता है
जिससे न मनुष्य कभी रोता

आँख बंद कर देखे कोई
रहे निराले में जाकर
त्रिपुटी में, या कुटी बना ले
समाधि में खाये गोता

खड़े विश्व-जनता में प्यारे
हम तो तुमको पाते है
तुम ऐसे सर्वत्र-सुलभ को
पाकर कौन भला खोता

प्रसन्न है हम उसमें, तेरी–
प्रसन्नता जिसमें होवे
अहो तृषित प्राणों के जीवन
निर्मल प्रेम-सुधा-सोता

नये नये कौतुक दिखलाकर
जितना दूर किया चाहो
उतना ही यह दौड़ दौड़कर
चंचल हृदय निकट होता

याचना

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे
ग्रहगण सभी हो केन्द्रच्युत लड़कर परस्पर भग्न हों
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्मपद में लग्न हों
जब शैल के सब शृङ्ग विद्युद्‌वृन्द के आघात से
हों गिर रहे भीषण मचाते विश्व में व्याघात से
जब घिर रहे हों प्रलय-घन अवकाश गत आकाश में
तब भी प्रभो! यह मन खिंचे तब प्रेम-धारा-पाश में
जब क्रूर षड्‌रिपु के कुचक्रों में पड़े यह मन कभी
जब दुःख की ज्वालावली हो भस्म करती सुख सभी
जब हों कृतघ्नों के कुटिल आघात विद्युत्पात से
जब स्वार्थी दुख दे रहे अपने मलिन छलछात से
जब छोड़कर प्रेमी तथा सन्मित्र सब संसार में
इस घाव पर छिड़कैं नमक, हो दुख खड़ा आकार में
करुणानिधे! हों दुःखसागर में कि हम आनन्द में

मन-मधुप हो विश्वस्त प्रमुदित तव चरण अरविन्द में
हम हो सुमन की सेज पर या कंटकों की झाड़ में
पर प्राणधन! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में
हम हों कही इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में
तव प्रेम-पथ में ही चलें, हे नाथ! तव आलोक में

पतित-पावन

पतित हो जन्म से, या कर्म ही से क्यों नहीं होवे
पिता सबका वही है एक, उसकी गोद में रोवे
पतित पदपद्म में होवे
तो पावन हो ही जाता है
पतित है गर्त्त में संसार के जो स्वर्ग से खसका
पतित होना कहो अब कौन सा बाकी रहा उसका
पतित ही को बचाने के
लिये, वह दौड़ आता है

पतित हो चाह में उसके, जगत में यह बड़ा सुख है

पतित हो जो नहीं इसमें, उसे सचमुच बड़ा दुख है

पतित ही दीन होकर

प्रेम से उसको बुलाता है

पतित होकर लगाई धूल उस पद की न अंगों में

पतित है जो नहीं उस प्रेमसागर की तरंगों में

पतित हो 'पूत' हो जाना

नहीं वह जान पाता है

'प्रसाद' उसका ग्रहण कर छोड़ दे आचार अनबन है

वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितों का पावन है

पतित होने की देरी है

तो पावन हो ही जाता है

खंजन

व्याप्त है क्या स्वच्छ सुषमा सी उषा भूलोक में

स्वर्णमय शुभ दृश्य दिखलाता नवल आलोक में
शुभ्र जलधर एक दो कोई कही दिखला गये
भाग जाने का अनिल-निर्देश वे भी पा गये
पुण्य-परिमल अङ्ग से मिलने लगा उल्लास से
हंस मानस का हँसा कुछ बोलकर आवास से
मल्लिका महँकी, अली-अवली मधुर मधु से छकी
एक कोने की कली भी गन्ध-वितरण कर सकी
बह रही थी कूल में लावण्य की सरिता अहो
हँस रही थी कल-कलध्वनि से प्रफुल्लितगात हो
खिल रहा शतदल मधुर मकरन्द भी पड़ता चुआ
सुरभि-संचय-कोश सा आनन्द से पूरित हुआ
शरद के हिम-बिन्दु मानो एक में ढाले हुए
दृश्यगोचर हो रहे है प्रेम से पाले हुए
है यही क्या विश्वपुषी शारदी साकार हो
सुन्दरी है या कि सुषमा का खड़ा आकार हो
कौन नीलोज्ज्वल युगल ये दो यहाँ पर खेलते
है झड़ी मकरन्द की अरविन्द में ये झेलते
क्या समय था, ये दिखाई पड़ गये, कुछ तो कहो

सत्य! क्या जीवन-शरद के ये प्रथम खंजन अहो

विरह

प्रियजन दृग-सीमा से जभी दूर होते
ये नयन-वियोगी रक्त के अश्रु रोते
सहचर-सुखक्रीड़ा नेत्र के सामने भी
प्रति क्षण लगती है नाचने चित्त में भी

प्रिय, पदरज मेघाच्छन्न जो हो रहा हो
यह हृदय तुम्हारा विश्व को खो रहा हो
स्मृति-सुख चपला की क्या छटा देखते हो
अविरल जलधारा अश्रु में भींगते हो

हृदय द्रवित होता ध्यान में भूत ही के
सब सबल हुए से दीखते भाव जी के

प्रति क्षण मिलते है जो अतीताब्धि ही में
गत निधि फिर आती पूर्ण की लब्धि ही में

यह सब फिर क्या है, ध्यान से देखिये तो
यह विरह पुराना हो रहा जाँचिये तो
हम अलग हुए है पूर्ण से व्यक्त होके
वह स्मृति जगती है प्रेम की नींद सोके

रमणी हृदय

सिन्धु कभी क्या बाड़वाग्नि को यों सह लेता
कभी शीत लहरों से शीतल ही कर देता
रमणी-हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता
कौन जानता है, नीचे में, क्या बहता है
बालू में भी स्नेह कहाँ कैसे रहता है

फल्गू की है धार हृदय वामा को जैसे
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह-सरोवर जैसे
ढकी बर्फ से शीतल ऊँची चोटी जिनकी
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी
ज्वालामुखी-समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं

स्वच्छ स्नेह अन्तर्निहित, फल्गू-सदृश किसी समय
कभी सिन्धु ज्वालामुखी, धन्य-धन्य रमणी-हृदय

हाँ, सारथे! रथ रोक दो

हाँ, सारथे! रथ रोक दो, विश्राम दो कुछ अश्व को
यह कुञ्ज था आनन्द दायक, इस हृदय के विश्व को
यह भूमि है उस भक्त के आराधना की साधिका
जिसको न था कुछ भय यहाँ भवजन्य आधिव्याधि का

जब था न कुछ परिचित सुधा से हृदय वन सा था बना
तब देखकर इस कुञ्ज को कुसुमित हुआ था वह घना
बरसा दिया मकरन्द की झीनी झड़ी उल्लास से
सुरभित हुआ संसार ही इस कुसुम के सुविकास से

जब दौड़ जीवन-मार्ग में पहली हमारी थी हुई
उच्छ्वासमय तटिनी-तरंगों के सदृश बढ़ती गई
था लक्ष्यहीन नवीन वर्षा के पवन सा वेग में
इस कुञ्ज ही में रुक गया था उस प्रबल उद्वेग में

जन्मान्तर-स्मृति याद औ' भूलकर निज चौकड़ी
मन-मृग रुका गर्दन झुकाकर छोड़कर तेजी बड़ी
अज्ञात से पदचिह्न का कर अनुसरण आया यहाँ
निज नाभि-सौरभ भूल फूलों का सुरस पाया यहाँ

सुख दुःख शीतातप भुलाकर प्राण की आराधना
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व ही की साधना
हे सारथे! रथ रोक दो, स्मृति का समाधिस्थान है

हम पैर क्या, शिर से चले तो भी न उचित विधान है

गंगा सागर

प्रिय मनोहर व्यक्त करे कहो
जगत्-नीरवता कहती 'नहीं'
गगन में ग्रह गोलक, तारिका
सब किये नत दृष्टि विचार में

पर नहीं, हम मौन न हो सकें
कह चले अपनी सरला कथा
पवन-संसृति से इस शून्य में
भर उठे मधुर ध्वनि विश्व में

"यह सही, तुम! सिन्धु अगाध हो
हृदय में बहु रत्न भरे पड़े

प्रबल भाव विशाल तरङ्ग से
प्रकट हो उठते दिन रात ही

न घटते-बढ़ते निज– सीम से–
तुम कभी, वह बाड़व रूप की
लपट में लिपटी फिरती नदी
प्रिये, तुम्हीं उसके प्रिय लक्ष्य हो

यदि कहो घन पावस-काल का
प्रबल वेग अहो क्षण काल का
यह नहीं मिलना कहला सके
मिलन तो मन का मन से सही

जगत की नव कल्पित कल्पना
भर रही हृदयाब्धि गँभीर में
'तुम नहीं इसके उपयुक्त हो
कि यह प्रेम महान सँभाल लो'

जलधि! मैं न कभी चाहती

कि 'तुम भी मुझपर अनुरक्त हो'

पर मुझे निज वक्ष उदार में

जगह दो, उसमें सुख में रहे"

प्रियतम

क्यों जीवन-धन! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र

लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं

जिसके तुम हो एक सहारा, उसको भूल न जाव कही

निर्दय होकर अपने प्रति, अपनेको तुमको सौंप दिया

प्रेम नहीं, करुण करने को क्षण भर तुमने समय दिया

अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम

क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम

स्मृति को लिये हुए अन्तर में, जीवन कर देंगे निःशेष

छोड़ो अब भी दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेष

कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो
रक्खो जब तक आँखों में, फिर और द्वार पर नहीं ढरो
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे
पुतली बनकर रहें चमकते, प्रियतम! हम दृग में तेरे

मोहन

अपने सुप्रेम-रस का प्याला पिला दे मोहन
तेरे में अपनेको हम जिसमें भुला दें मोहन
निज रूप-माधुरी की चसकी लगा दे मुझको
मुँह से कभी न छूटे ऐसी छका दे मोहन
सौन्दर्य विश्व भर में फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे मोहन
अस्तित्व रह न जाये हमको हमारे ही में
हमको बना दे तू अब, ऐसी प्रभा दे मोहन
जलकर नहीं है हटते जो रूप की शिखा से

हमको, पतंग अपना ऐसा बना दे मोहन
मेरा हृदय-गान भी तव राग में रँगा हो
ऐसी उषा की लाली अब तो दिखा दे मोहन
आनन्द से पुलककर हों रोम रोम भीने
संगीत वह सुधामय अपना सुना दे मोहन

भाव-सागर

थोड़ा भी हँसते देखा ज्योंही मुझे
त्योंही शीघ्र रुलाने को उत्सुक हुए
क्यों ईर्ष्या है तुम्हें देख मेरी दशा
पूर्ण सृष्टि होने पर भी यह शून्यता
अनुभव करके हृदय व्यथित क्यों हो रहा
क्या इसमें कारण है कोई, क्या कभी
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही
मिलता नही हृदय को, तेरी ओर वह

तब तक जाने को प्रस्तुत होता नही
कुछ निजस्व-सा तुम पर होता भान है
गर्व-स्फीत हृदय होता तव स्मरण में
अहंकार से भरी हमारी प्रार्थना
देख न शंकित होना, समझो ध्यान से
वह मेरे में तुम हो साहस दे रहे
लिखता हूँ तुमको, फिर उसको देख के
स्वयं संकुचित होकर भेज नही सका
क्या? अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नही
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर! सुनो
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही

मिल जाओ गले

देख रहा हूँ, यह कैसी कमनीयता

छाया सी कुसुमित कानन में छा रही
अरे, तुम्हारा ही यह तो प्रतिबिम्ब है
क्यों मुझको भुलवाते हो इनमें? अजी
तुम्हें नहीं पाकर क्या भूलेगा कभी
मेरा हृदय इन्हीं काँटो के फूल में
जग की कृत्रिम उत्तमता का बस नहीं
चल सकता है, बड़ा कठोर हृदय हुआ

मानस-सर में विकसित नव अरविन्द का
परिमल जिस मधुकर को छू भी गया हो
कहो न कैसे वह कुरबक पर मुग्ध हो
घूम रहा है कानन में उद्देश्य से
फूलो का रस लेने की लिप्सा नहीं
मधुकर को वह तो केवल है देखता
कही वही तो नहीं कुसुम है खिल रहा
उसे न पाकर छोड़ चला जाता अहो

उसे न कहो कि वह कुरबक-रस-लुब्ध है

हृदय कुचलने वालों से, अभिमान के
नीच, घमण्डी जीवों से बस कुछ नहीं
उन्हें घृणा भी कहती सदा नगण्य है
वह दब सकता नहीं, न उनसे मिल सके
जिसमें तेरी अविकल छवि हो छा रही
तुमसे कहता हूँ प्रियतम! देखो इधर
अब न और भटकाओ, मिल जाओ गले

नहीं डरते

क्या हमने कह दिया, हुए क्यों रुष्ट हमें बतलाओ भी
ठहरो, सुन लो बात हमारी, तनक न जाओ, आओ भी
रूठ गये तुम, नहीं सुनोगे, अच्छा! अच्छी बात हुई
सुहृद, सदय, सज्जन मधुमुख थे मुझको अबतक मिले कई
सबको था दे चुका, बचे थे उलाहने से तुम मेरे
वह भी अवसर मिला, कहूँगा हृदय खोल कर गुण तेरे

कहो न कब बिनती की मेरी सच कहना कि 'मुझे चाहो'
मेरे खौल रहे हृत्सर में तुम भी आकर अवगाहो
फिर भी, कब चाहा था तुमने हमको, यह तो सत्य कहो
हम विनोद की सामग्री थे केवल इससे मिले रहो
तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि 'हम चाह में व्याकुल है' यह गर्म साँस अब नहीं भरो
मिथ्या ही हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नहीं करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे; फिर भी किया, नही डरते

महाकवि तुलसीदास

अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा
इस शुभ सत्ता को जिसमे अनुभूत किया था
मानवता को सदय राम का रूप दिया था
नाम-निरूपण किया रत्न से मूल्य निकाला

अन्धकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक बाला
दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था
भक्ति-सुधा से जो सन्ताप हरण करता था
प्रभु का निर्भय-सेवक था, स्वामी था अपना
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
प्रबल-प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का

राम छोड़कर और की, जिसने कभी न आस की
'राम-चरित-मानस'-कमल जय हो तुलसीदास की

धर्मनीति

जब कि सब विधियाँ रहे निषिद्ध, औरु हो लक्ष्मी को निर्वेद
कुटिलता रहे सदैव समृद्ध, और सन्तोष मनावे खेद
वैध क्रम संयम को धिक्कार
अरे तुम केवल मनोविकार

बाँधती हो जो विधि सद्भाव, साधती हो जो कुत्सित नीति
भग्न हो उसका कुटिल प्रभाव, धर्म वह फैलावेगा भीति
    भीति का नाशक हो तव धर्म
    नहीं तो रहा लुटेरा-कर्म
दुखी है मानव-देव अधीर– देखकर भीषण शान्त समुद्र
व्यथित बैठा है उसके तीर– और क्या विष पी लेगा रुद्र
    करेगा तब वह ताण्डव-नृत्य
    अरे दुर्बल तर्कों के भृत्य
गुञ्जरित होगी शृङ्गीनाद, धूसरित भव बेला में मन्द्र
कँपैंगे सब सूत्रों के पाद, युक्तियाँ सोवेंगी निस्तन्द्र
    पञ्चभूतों को दे आनन्द
    तभी मुखरित होगा यह छन्द
दूर हों दुर्बलता के जाल, दीर्घ निःश्वासों का हो अन्त
नाच रे प्रवञ्चना के काल, दग्ध दावानल करे दिगन्त
    तुम्हारा यौवन रहा ललाम
    नम्रते! करुणे! तुझे प्रणाम

गान

जननी जिसकी जन्मभूमि हो; वसुन्धरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हों, पिता परम अविनाशी हो
दम्भ न छुए चरण-रेणु वह धर्म नित्य-यौवनशाली
सदा सशक्त करों से जिसकी करता रहता रखवाली
शीतल मस्तक, गर्म रक्त, नीचा सिर हो, ऊँचा कर भी
हँसती हो कमला जिसके करूणा-कटाक्ष में, तिस पर भी
खुले-किवाड़-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को
मानस शांत, सरोज-हृदय हो सुरभि सहित खिल जाने को
जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ हल हो
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का कल हो
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में
ऐसे युवक चिरंजीवी हो , देश बना सुख-राशी हो
और इसलिये आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हो

मकरन्द-बिन्दु

तप्त हृदय को जिस उशीर-गृह का मलयानिल
शीतल करता शीघ्र, दान कर शान्ति को अखिल
जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को
स्वयं प्रकाशानुभव-मूर्ति देखी न क्षोभ को
प्रकृति सुप्राङ्गण में सदा, मधुक्रीड़ा-कूटस्थ को
नमस्कार मेरा सदा, पूरे विश्व-गृहस्थ को

है पलक परदे खिंचे बरुनी मधुर आधार से
अश्रुमुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से
चित्त-मंदिर में अमल आलोक कैसा हो रहा
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य आकार से
मृदु मृदङ्ग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में
कल्पना-वीणा बजी हर एक अपने तार से

इन्द्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से

हृदय नहिं मेरा शून्य रहे
तुम नहिं आओ जो इसमें तो, तव प्रतिबिम्ब रहे
मिलने का आनन्द मिले नहिं जो इस मन को मेरे
करुणव्यथा हो लेकर तेरी जिये प्रेम के डेरे

मिले प्रिये, इन चरणों की धूल
जिसमें लिपटा ही आया है सकल सुमंगल-मूल
बड़े भाग्य से बहुत दिनों पर आये हो तुम प्यारे
बैठो, घबराओ मत, बोलो, रहो नहीं मन मारे
हृदय सुनाना तुम्हें चाहता, गाथाएँ जो बीती
गद्‍गद कंठ, न कह सकता हूँ, देखी बाजी जीती

प्रथम, परम आदर्श विश्व का जो कि पुरातन
अनुकरणों का मुख्य सत्य जो वस्तु सनातन
उत्तमता का पूर्ण रूप आनन्द भरा धन
शक्ति-सुधा से सिंचा, शांति से सदा हरा वन
परा प्रकृति से परे नहीं जो हिलामिला है
सन्मानस के बीच कमल सा नित्य खिला है
चेतन की चित्कला विश्व में जिसका सत्ता
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता
स्वानुभूति का साक्षा है जो जड़ का चेतन
विश्वशरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन
अणु अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक
नित्य नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कारक
जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है

गज समान है त्रस्त, ग्रस्त द्रौपदी सदृश है
ध्रुव सा धिक्कृत और सुदामा सा वह कृश है

बँधा हुआ प्रह्लाद सदृश, कुत्सित कर्मों से
अपमानित गौतमी न थी इतनी मर्मों से

धर्म बिलखता सोचता
हम क्या से क्या हो गये
थक तक कुछ अवतार से
तुम सुख-निधि में सो गये।

चित्रकूट

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छन्द गगन में

चित्रकूट भी चित्रलिखा-सा देख रहा था

मन्दाकिनी तरङ्ग उसी से खेल रहा था
स्फटिक-शिला-आसीन राम वैदेही ऐसे
निर्मल सर में नील कमल नलिनी हो जैसे

निज प्रियतम के सङ्ग सुखी थी कानन में भी
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी
मृगशावक के साथ मृगी भी देख रही थी
सरल विलोकन जनकसुता से सीख रही थी

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी
सच ही हैं श्रीमान भोगते सुख वन में भी
चन्द्रातप था व्योम, तारिका-रत्न जड़े थे
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरुपुञ्ज खड़े थे

शान्त नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी
कलम-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी
बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को

हिली आम की डाल, चला ज्यों नवल हिंडोला
'आह कौन है' पञ्चम स्वर से कोकिल बोला
मलयानिल प्रहरी सा फिरता था उस वन में
शान्ति शान्त हो बैठी थी कामद कानन में

राघव बोले देख जानकी के आनन को—
"स्वर्गङ्गा का कमल मिला कैसे कानन को"
'नील मधुप को देख वहीं उस कञ्ज-कली ने
स्वयं आगमन किया'— कहा यह जनक-लली ने

बोले राघव— 'प्रिये! भयावह से इस वन में
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में'
कह जानकी ने हँसकर— 'उसको है क्या डर
जिसके पास प्रवीण धनुर्धर ऐसा सहचर'

कहा राम ने— 'अहा! महल, मन्दिर मनभावन
स्मरण न होते तुम्हें कहो क्या वे अति पावन,
रहते थे झंकारपूर्ण जो तव नूपुर से
सुरभिपूर्ण पुर होता था जिस अन्तःपुर से'

जनकसुता ने कहा— 'नाथ! यह क्या कहते है
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते है
कहो उसे प्रियप्राण! अभाव रहा फिर किसका
विवभ चरण का रेणु तुम्हारा ही जिसका'

मधुर मधुर आलाप करते ही पिय-गोद में
मिटा सकल सन्ताप, वैदेही सोने लगी
पुलकित तनु थे राम, देख जानकी की दशा
सुमन-स्पर्श अभिराम, सुख देता किसको नहीं

नील गगन सम राम, अहा अंक में चन्द्रमुख
अनुपम शोभाधाम आभूषण सी तारिका
खुले हुए कच-भार बिखर गये थे बदन पर
जैसे श्याम सिवार आसपास हो कमल के

कैसा सुन्दर दृश्य! लता-पत्र थे हिल रहे
जैसे प्रकृति अदृश्य, बहु कर से पंखा झले
निर्निमेष दृग नील देख रहे थे राम के

जैसे प्रहरी भील खड़े जानकी-वदन के
नैसर्गिक सौन्दर्य देख जानकी-अङ्ग का
नृपचूड़ामणिवर्य राम मुग्ध से हो रहे

'कुछ कहना है आर्य' बोले लक्ष्मण दूर से
'ऐसा ही है कार्य, इससे देता कष्ट हूँ'

राघव ने सस्नेह कहा– 'कहो, क्या बात है
कानन हो या गेह, लक्ष्मण तुम चिरबन्धु हो
फिर कैसा संकोच? आओ, बैठो पास में
करो न कुछ भी सोच, निर्भय होकर तुम कहो'

पाकर यह सम्मान, लक्ष्मण ने सविनय कहा–
"आर्य! आपका मान, यश सदैव बढ़ता रहे
फिरता हूँ मैं नित्य, इस कानन में ध्यान से
परिचय जिसमें सत्य मिले मुझे इस स्थान का
अभी टलकर दूर, ज्योंही मैं लौटा यहाँ
एक विकटमुख क्रूर भील मिला उस राह में

मेरा आना जाना, उठा सजग हो भील वह
मैंने शर सन्धान किया जानकर शत्रु को
किन्तु, क्षमा प्रति बार, माँगा उसने नम्र हो
रुका हमारा वार, पूछा फिर– 'तुम कौन हो'

उसने फिर कर जोड़ कहा– 'दास हूँ आपका
चरण कमल को छोड़, और कहाँ मुझको शरण,
निषादपति का दूत हूँ मैं प्रेरित आया यहाँ
कहना है करतूत भरत भूमिपति का प्रभो

सजी सैन्य चतुरङ्ग बलशाली ले साथ में
किये और ही ढङ्ग, आते है इस ओर को'
पुलकिल होकर राम बोले लक्ष्मण वीर से–
'और नहीं कुछ काम, मिलने आते हैं भरत'

सोते अभी खग-वृन्द थे निज नीड़ में आराम से
ऊषा अभी निकली नहीं थी रविकरोज़वल-दाम से
केवल टहनियाँ उच्च तरुगण की कभी हिलती रही
मलयज पवन से विवश आपस में कभी मिलती रही

ऊँचे शिखर, मैदान, पर्णकुटीर, सब निस्तब्ध थे
सब सो रहे, जैसे अभागों के दुखद प्रारब्ध थे
झरने पहाड़ी चल रहे थे, मधुर मीठी चाल से
उड़ते नहीं जलकण अभी थे उपलखण्ड विशाल से
आनन्द के आँसू भरे थे, गगन में तारावली
थी देखती रजनी बिदा होते निशाकार को भली

कलियाँ कुसुम की थी लजाई प्रथम स्पर्श शरीर से
चिटकीं बहुत जब छेड़छाड़ हुआ समीर अधीर से
थी शान्तिदेवी सी खड़ी उस ब्राह्मवेला में भली
मन्दाकिनी शुभ तरल जल के बीच मिथिलाधिप लली

रजलिप्त स्वच्छ शरीर होता था सरोज-पराग से
जल भी रँगा था श्यामलोज्ज्वल राम के अनुराग से
जलविन्दु थे जो वदन पर, उस इन्दु मन्द प्रकाश में
द्रवचन्द्रकान्त मनोज्ञ मणि के बने विमल विलास में

आकण्ठ मज्जित जानकी चन्द्राभमय जल में खड़ी

सचमुच वदन विधु था शरद-घन बीच जिसकी गति अड़ी
जल की लहरियाँ घेरतीं बन मेघमाला सी उसे
हो पवन-ताड़ित इन्दु कर मलता निरख करके जिसे

कर स्नान पर्णकुटीर को अपने सिधारी जानकी
तव कञ्जनलोचन के जगाने की क्रिया अनुमान का
रविकर-सदृश हेमाभ उँगली से चरण-सरजित छुआ
उन्निद होने से लगे दृगकञ्ज, कम्प सहज हुआ
उस नित्यपरिचित स्पर्श से राघव सजग हो जग गये
होकर निरालस नित्यकृत्य सुधारने में लग गये

फलमूल लेने के लिए तब जानकी तरु-पुञ्ज में
सञ्चारिणी ललिता लता सी खो गई घन कुञ्ज में
अपने सुकृत-फल के समान मिले उन्हें फल ढेर से
मीठे, नवीन, सुस्वाद, जो संचित रहे थे देर से

हो स्वस्थ प्रातःकर्म से जब राम पर्णकुटीर में
आये टहल मन्दाकिनी-तट से प्रभात-समीर में
देखा कुशासन है बिछा, फल और जल प्रस्तुत वहाँ

है जानकी भी पास, पर लक्ष्मण न दिखलाते वहाँ

सीता ने तब खोज लिया सौमित्र को
तरु-समीप में, वीर-विचित्र चरित्र को
'लक्ष्मण! आओ वत्स, कहाँ तुम चढ़ रहे'
प्रेम भरे ये वचन जानकी ने कहे

'आर्ये, होगा स्वादु मधुर फल यह पका
देखो, अपने सौरभ से है यह छका'
लक्ष्मण ने यह कहा और अति वेग से
चले वृक्ष की ओर, चढ़े उद्वेग से

ऊँचा था तरुराज, सघन वह था हरा
फल फूलों से डाल पाते से था भरा
लक्ष्मण तुरत अदृश्य उसी में हो गये
जलद-जाल के बीच बिमल विधु से हुए

टहल रहे थे राम उसी ही स्थान में

कोलहाहल रव पड़ा सुनाई कान में
चकित हुए थे राम, बात न समझ पड़ी
लक्ष्मण की पुकार तबतक यह सुन पड़ी–

''आर्य, आर्य, बस धनुष मुझे दे दीजिये
कुछ भी देने में विलम्ब मत कीजिये
कहा राम ने– 'वत्स, कहो क्या बात है
सुनें भला कुछ, कैसा यह उत्पात है'

लक्ष्मण ने फिर कहा– 'देर मत कीजिये
आया है वह दुष्ट मारने दीजिये'
'कौन? कहो तो स्पष्ट, कौन अरि है यहाँ?'
कहा राम ने– 'सुनें भला, वह है कहाँ'

'दुष्ट भरत आता ले सेना संग में
रँगा हुआ है क्रूर राजमद-रंग में
उसका हृद्गत भाव और ही आर्य है
आता करने को कुछ कुत्सित कार्य है'

सुनकर लक्ष्मण के यह वाक्य प्रमाद से–
भर, हँसे तब राम मलीन विषाद से
कहा– 'उतर आओ लक्ष्मण उस वृक्ष से
हटो शीघ्र उस भ्रम पूरित विषवृक्ष से'

लक्ष्मण नीचे आकर बोले रोष से–
'वनवासी है हुए आप निज दोष से'
भरत इसी क्षण पहुँचे, दौड़ समीप में
बढ़ा प्रकाश सुभ्रातृस्नेह के दीप में

चरण-स्पर्श के लिए भरत-भुज ज्यों बढ़े
राम-बाहु गल बीच पड़े, सुख से मढ़े
अहा! विमल स्वर्गीय भाव फिर से आ गया
नील कमल मकरन्द-विन्दु से छा गया॥

भरत

हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने
खड़ा बताता है भारत के गर्व को
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में
बनती है हिम-लता कुसुम-मणि के खिले
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है
सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में
सूर्य-ताप भी सदा सुखद होता यहाँ
हिम-सर में भी खिल विमल अरविन्द हा
कही नहीं है शोच, कहाँ संकोच है
चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नदी
चन्द्रकान्त से ये हिम-खंड मनोज्ञ है
फैली है ये लता लटकती शृङ्ग में
जटा समान तपस्वी हिमगिरि की बनी
कानन इसके स्वादु फलों से है भरे

सदा अयाचित देते है फल प्रेम से
इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका
है जिसके समीप आश्रम ऋषिवर्य का

अहा! खेलता कौन यहाँ शिशु सिंह से
आर्यवृन्द के सुन्दर सुखमय भाग्य सा
कहता है उसको लेकर निज गोद में–
‘खोल, खोल, मुझ सिंह-बाल, मैं देखकर
गिन लूँगा तेरे दाँतों को है भले
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर है’

देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहिनी
छड़ी तानकर बोला बालक रोष से–
‘बाधा देगी क्रीड़ा में यदि तू कभी
मार खायगी, और तुझे दूँगा नही–
इस बच्चे को; चली जा, अरी भाग जा’

अहा, कौन यह वीर बाल निर्भीक है

कहो भला भारतवासी! हो जानते
यही ‘भरत’ वह बालक है, जिस नाम से
‘भारत’ संज्ञा पड़ी इस वर भूमि की
कश्यप के गुरुकुल में शिक्षित हो रहा
आश्रम में पलकर कानन में घूमकर
निज माता की गोद मोद भरता रहा
जो पति से भी बिछुड़ रही दुर्दैव-वश
जंगल के शिशुसिंह सभी सहचर रहे
रहा घूमता हो निर्भीक प्रवीर यह
जिसने अपने बलशाली भुजदंड से
भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया
वही वीर यह बालक है दुष्यन्त का
भारत का शिर-रत्न 'भरत’ शुभ नाम है

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है? घोर यह

महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा
अथवा तोपों के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा
नही; महा संघर्षण से होकर व्यथित
हरिचन्दन दावानल फैलाने लगा
दुर्गमन्दिर के सब ध्वंस बचे हुए
धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में—
उनके, जिनके वे थे खुदवाये गये
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ

दुर्दिन-जल-धारा न सम्हाल सकी अहो

बालू की दीवार मुगल-साम्राज्य की
आर्य-शिल्प के साथ गिरा वह भी, जिसे
अपने कर से खोदा आलमगीर ने
मुगल-महीपति के अत्याचारी, अबल
कर कँपने-से लगे। अहो यह क्या हुआ

मुगल-अदृष्टाकाश-मध्य अति तेज से
धूमकेतु से सूर्यमल्ल समुदित हुए
सिंहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश
प्रतिहिंसा पूरित वीरो की मण्डली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग में
मुगल-महीपों के आवासादिक बहुत
टूट चुके है, आम खास के अंश भी
किन्तु न कोई सैनिक भी सन्मुख हुआ

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल है

मुख-मण्डल भीषण प्रतिहिंसा पूर्ण है
सूर्यमल्ल मध्याह्न सूर्य सम चण्ड हो
मोतीमस्जिद के प्राङ्गण में है खड़े
भीम गदा है कर में, मन में वेग है
उठा, क्रुद्ध हो सबल हाथ लेकर गदा
छज्जे पर जा पड़ा, काँपकर रह गई
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ

किन्तु न फिर वह चला चण्डकर नाश को
क्यों जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है

सूर्यमल्ल रुक गये, हृदय रुक गया

भीषणता रुक कर करुणा-सी हो गई।
कहा- 'नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से -
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायेगी लुप्त। बड़ा आश्चर्य है
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता

अति सर्वत्र अहो वर्जित है, सत्य ही

कहीं वीरता बनती इससे क्रूरता
धर्म जन्य प्रतिहिंसा ने क्या-क्या नही
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प साहित्य का
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के

साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये
तोड़े गये, अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो
हे भारत के ध्वंस शिल्प! स्मृति से भरे
कितनी वर्षी शीतातप तुम सह चुके
तुमको देख नितान्त करुण इस वेश मे
कौन कहेगा कब किसने निर्मित किया
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये
किस मिट्टी की ईटें है बिखरी हुई

कुरुक्षेत्र

नील यमुना-कूल में तब गोप-बालक-वेश था
गोप-कुल के साथ में सौहार्द प्रेम विशेष था
बाँसुरी की एक ही बस फूँक तो पर्याप्त थी
गोप-बालों की सभा सर्वत्र ही फिर प्राप्त थी

उस रसीले राग में अनुराग पाते थे सभी
प्रेम के सारल्य ही का राग गाते थे सभी
देख मोहन को न मोहे, कौन था इस भूमि में
रास की राका रुकी थी देख मुख व्रजभूमि में।
धेनुचारण कार्य कालिन्दी-मनोहर-कूल में
वेणुवादन कुञ्ज में, जो छिप रहा था फूले में
भूलकर सब खेल ये, कर ध्यान निज पितु मात का–
कंस को मारा, रहा जो दुष्ट पीवर गात का

थी इन्होंने ही सही सत्रह कठोर चढ़ाइयाँ
हारकर भागा मगध-सम्राट कठिन लड़ाइयाँ
देखकर दौर्वृत्य यह दुर्दम्य क्षत्रिय-जाति का
कर लिया निश्चित अरिन्दम ने निपात अराति का
वीर वार्हद्रथ बली शिशुपाल के सुन सन्धि को
और भी साम्राज्य-स्थापन की महा अभिसन्धि को
छोड़कर व्रज, बाल-क्रीड़ा-भूमि, यादव-वृन्द ले
द्वारिका पहुँचे, मधुप ज्यों खोज ही अरविन्द ले
सख्यस्थापन कर सुभद्रा को विवाहा पार्थ से

आप समभागी हुए तब पाण्डवों के स्वार्थ से
वीर वार्हद्रथ गया मारा कठिन रणनीति से
आप संरक्षक हुए फिर पाण्डवों के, प्रीति से
केन्द्रच्युत नक्षत्रमण्डल से हुए राजन्य थे
आन्तरिक विद्वेष के भी छा गये पर्जन्य थे
दिव्य भारत का अदृष्टाकाश तमसाच्छन्न था
मलिनता थी व्याप्त कोई भी कहीं न प्रसन्न था
सुप्रभात किया अनुष्ठित राजसूय सुरीति से
हो गई ऊषा अमल अभिषेक-जलयुत प्रीति से
धर्मराज्य हुआ प्रतिष्ठित धर्मराज नरेश थे
इस महाभारत-गगन के एक दिव्य दिनेश थे
यों सरलता से हुए सम्पन्न कृष्ण-प्रभाव से
देखकर वह राजसूय जला हृदय दुर्भाव से
हो गया सन्नद्ध तब शिशुपाल लड़ने के लिये
और था ही कौन केशव सङ्ग अड़ने के लिये
थी बड़ी क्षमता, सही इससे बहुत सी गालियाँ
फूल उतरे ही भरे, जितनी बड़ी हों डालियाँ
क्षमा करते, पर लगे काँटे खटकने और को

चट धराशायी किया तब पाप के शिरमौर को

पांडवों का देख वैभव नीच कौरवनाथ ने
द्यूत-रचना को, दिया था साथ शकुनी-हाथ ने
कुटिल के छल से छले जाकर अकिञ्चन हो गये
हारकर सर्वस्व पाण्डव विपिनवासी हो गये
कष्ट से तेरह बरस कर वास कानन कुञ्ज में
छिप रहे थे सूर्य से जो वीर वारिद-पुञ्ज में
कृष्ण-मारुत का सहारा पा, प्रकट होना पड़ा
कर्म के जल में उन्हें निज दुःख सब धोना पड़ा
आप अध्वर्य्थू हुए, ब्रह्मा युधिष्ठिर को किया
कार्य होता था धनञ्जय ने स्वयं निज कर लिया
धनुष की डोरी बनी उस यज्ञ में सच्ची स्रुवा
उस महारण-अग्नि में सब तेज बल ही घी हुआ
बध्य पशु भी था सुयोधन, भार्गवादिक मंत्र थे
भीम के हुंकार ही उद्‌गीथ के सब तंत्र थे
रक्त-दुःशासन बना था सोमरस शुचि प्रीति से
कृष्ण ने दीक्षित किया था धनुर्वैदिक रीति से

कौरवादिक सामने, पीछे पृथासुत सैन्य है
दिव्य रथ है बीच में, अर्जुन-हृदय में दैन्य है
चित्र हैं जिसके चरित, वह कृष्ण रथ के सारथी
चित्र ही से देखते यह दृश्य वीर महारथी
मोहिनी वंशी नहीं कंज कर में माधुरी
रश्मि है रथ की, प्रभा जिसमें अनोखी है भरी
शुद्ध सम्मोहन बजाया वेणु से ब्रजभूमि में
नीरधर सी धीर ध्वनि का शंख अब रणभूमि में
नील तनु के पास ऐसी शुभ्र अश्वों की छटा
उड़ रहे जैसे बलाका, घिर रही उन पर घटा
स्वच्छ छायापथ समीप नवीन नीरद-जाल है
या खड़ा भागीरथी-तट फुल्ल नील तमाल है
छा गया फिर मोह अर्जुन को, न वह उत्साह था
काम्य अन्तःकरण में कारुण्य-नीर-प्रवाह था
'क्यों करें वध वीर निज कुल का सडे से स्वार्थ से
कर्म यह अति घोर है, होगा नहीं यह पार्थ से'
कृष्ण केवल सारथी ही थे नहीं रथ के वहाँ
सव्यसाची का मनोरथ भी चलाते थे वहाँ

जानकर यह भाव मुख पर कुछ हँसी सी छा गई
दन्त-अवली नील घन की वारिधारा सी हुई
कृष्ण ने हँसकर कहा— "कैसी अनोखी बात है
रण-विमुख होवें विजय! दिन में हुई कब रात है
यह अनार्यों की प्रथा सीखी कहाँ से पार्थ ने
धर्मच्युत होना बताया एक छोटे स्वार्थ ने
क्यों हुए कादर, निरादर वीर कर्मों का किया
सव्यसाची ने हृदय-दौर्बल्य क्यों धारण किया
छोड़ दो इसको,नहीं यह वीर जन के योग्य है
युद्ध की ही विजय-लक्ष्मी नित्य उनके भोग्य है
रोकते है मारने से ध्यान निज कुल मान के
यह सभी परिवार अपने पात्र है सम्मान के
किन्तु यह क्या विदित है हे विजय! तुमको सभी
काल के ही गाल में मरकर पड़े है ये कभी
नर न कर सकता कभी, वह एकमात्र निमित्त है
प्रकृति को रोके नियति, किसमें भला यह वित्त है
क्या न थे तुम, और क्या मैं भी न था, पहले कभी
क्या न होंगे और वीर ये सेनप सभी

आत्मा सबकी सदा थी, है रहेगी, मान लो
नित्य चेतनसूत्र की गुरिया सभी को जान लो
ईश प्रेरकशक्ति है हृद्यंत्र में सब जीव के
कर्म बतलाये गये है भिन्न सारे जीव के
कर्म जो निर्दिष्ट है, हो धीर, करना चाहिये
पर न फल पर कर्म के कुछ ध्यान रखना चाहिये
कर रहा हूँ मैं, करूँगा फलग्रहण, इस ध्यान से
कर रहा जो कर्म, वह तो भ्रान्त है अज्ञान से
मारता हूँ मैं, मरेंगे ये, कथा यह भ्रान्त है
ईश से विनियुक्त जीव सुयंत्र-सा अश्रान्त है
है वही कर्त्ता, वही फलभोक्ता संसार का
विश्व क्रीड़ा-क्षेत्र है विश्वेश हृदय उदार का
रण-विमुख होगें, बनोगे वीर से कायर कहो
मरण से भारी अयश क्यों दौड़कर लेना चहो
उठ खड़े हो, अग्रसर हो, कर्मपथ से मत टरो
क्षत्रियोचित धर्म जो है युद्ध निर्भय हो करो"

सुन सबल ये वाक्य केशव के भरे उत्साह से

तन गये डोरे दृगों के, धनुष के, अति चाह से

हो गयी फिर तो धनञ्जय की विजय उस भूमि में

प्रकट है जो कर दिखाया पार्थ ने रणभूमि में

वीर बालक

भारत का सिर आज इसी सरहिन्द में

गौरव मंडित ऊँचा होना चाहता

अरुण उदय होकर देता है कुछ पता

करुण प्रलाप करेगा भैरव घोषणा

पाञ्चजन्य बन बालक-कोमल-कंठ ही

धर्म-घोषणा आज करेगा देश में

जनता है एकत्र दुर्ग के सामने

मान धर्म का बालक-युगल-करस्थ है

युगल बालकों की कोमल ये मूर्तियाँ

दर्पपूर्ण कैसी सुन्दर है लग रही
जैसे तीव्र सुगन्ध छिपाये हृदय में
चम्पा की कोमल कलियाँ हो शोभती

सूबा ने कुछ कर्कश स्वर में वेग से
कहा– 'सुनो बालकों, न हो बस काल के
बात हमारी अब भी अच्छी माल लो
अपने लिये किवाड़ें खोलो भाग्य के
सब कुछ तुम्हें मिलेगा, यदि सम्राट की
होगी करुणा, तुम लोगों के हाथ है
उसे हस्तगत करो, या कि फेंको अभी
किसने तुम्हें भुलाया है? क्यों दे रहे
जानें अपनी, अव से भी यह सोच लो
यदि पवित्र इस्लाम-धर्म स्वीकार है
तुम लोगों को, तब तो फिर आनन्द है
नहीं, शास्ति इसकी केवल वह मृत्यु है
जो तुमको आशामय जग से अलग ही
कर देगी क्षण भर में, सोचो, समय है

अभी भविष्यत् उज्ज्वल करने के लिये
शीघ्र समझकर उत्तर दो इस प्रश्न का'

शान्त महा स्वर्गीय शान्ति की ज्योति से
आलोकित हो गया सुवदन कुमार का
पैतृक-रक्त-प्रवाह-पूर्ण धमनी हुई
शरत्काल के प्रथम शशिकला सी हँसी
फैल गई मुख पर 'जोरावरसिंह' के
कहा— 'यवन! क्यों मुझे समझा रहे
वाहगुरु की शिक्षा मेरी पूर्ण है
उनके चरणों की आभा हृत्पटल पर
अंकित है, वह सुपथ मुझे दिखला रही
परमात्मा की इच्छा जो हो, पूर्ण हो'
कहा घूमकर फिर लघुभ्राता से— 'कहो
क्या तुम हो भयभीत मृत्यु के गर्त्त से
गड़ने में क्या कष्ट तुम्हें होगा नहीं'

शिशु कुमार ने कहा— 'बड़े भाई जहाँ,

वहाँ मुझे भय क्या है? प्रभु की कृपा से'

निष्ठुर यवन अरे क्या तू यह कह रहा
धर्म यही है क्या इस निर्म्मम शास्त्र का
कोमल कोरक युगल तोड़कर डाल से
मिट्टी के भीतर तू कुचला चाहता
हाय धर्म का प्रबल भयानक रूप यह
महाताप को भी उल्लंघन कर गया
कितने गये जलाये, वध कितने हुए
निर्वासित कितने होकर कब कब नहीं
बलि चढ़ गये, धन्य देवि धर्मान्धिते

राक्षस से रक्षा करने को धर्म की
प्रभु पाताल जा रहे है युगमूर्ति से
अथवा जिनकी नाल नहीं दिखला रही
ऐसे दो – स्थलपद्म खिले सानन्द है
ईंटों से चुन दिये गये आकंठ वे
बाल-बराबर भी न भाल पर, बल पड़ा–

जोरावर औ' फतहसिंह के, धन्य है—
जनक और जननी इसकी, यह भूमि भी

सूबा ने फिर कहा— 'अभी भी समय है—
बचने का बालको, निकल कर मान लो
बात हमारी' तिरस्कार की दृष्टि फिर
खुलकर पड़ी यवन के प्रति, वीणा बजी—
'क्यों अन्तिम प्रभु-स्मरण-कार्य में भी मुझे
छेड़ रहे हो? प्रभु की इच्छा पूर्ण हो'

सब आच्छादित हुआ यवन की बुद्धि-सा
कमल-कोश में भ्रमर गीत सा प्रेममय
मधुर प्रणव गुञ्जारित स्वच्छ लगा, होने
शान्ति! भयानक शान्ति! और निस्तब्धता!

श्रीकृष्ण-जयन्ती

कंस-हृदय की दुश्चिन्ता सा जगत् में
अन्धकार है व्याप्त, घोर घन है उठा
भीग रहा है नीरद अपने नीर से
मन्थर गति है उनकी कैसी व्योम में
रुके हुए थे, 'कृष्ण-वर्ण' को देख लें–
जो कि शीघ्र ही लज्जित कर देगा उन्हें
जगत् आन्तरिक अन्धकार से व्याप्त है
उसका ही यह वाह्य रूप है व्योम में
उसे उजाले में ले आने को अभी
दिव्य ज्योति प्रकटित होगी क्या सत्य ही

सुर-सुन्दरी-वृन्द भी है कुछ ताक में
हो करके चञ्चला घूमती है यहाँ–
झाँक झाँककर किसको है ये देखतीं
छिड़क रहा है प्रेमसुधा क्यों मेघ भी
किसका है आगमन अहो आनन्दमय
मधुर मेघ-गर्जन-मृदङ्ग है बज रहा
झिल्ली वीणा बजा रही है क्यों अभी

तूर्यनाद भी शिखिगण कैसे कर रहे
दौड़ दौड़कर सुमन-सुरभि लेता हुआ
पवन स्पर्श करना किसको है चाहता
तरुण तमाल लिपटकर अपने पत्र में
किसका प्रेम जताता है आनन्द से
रह रहकर चातक पुकारता है किसे–
मुक्त कंठ से, किसे बुलाता है कहो
रहो रहो यह झगड़ा निबटेगा तभी
छिपी हुई जब ज्योति प्रकट हो जायगी
हाँ, हाँ, नीरद-वृन्द, और तम चाहिये
कोई परदे वाला है यह आ रहा
परदा खोलेगा जो एक नया नहीं–
जगत-रङ्गशाला में, मङ्गलपाठ हो
द्विजकुल-चातक और जरा ललकार दो–
'अरे बालकों इस सोये संसार के
जाग पड़ो, जो अपनी लीला खेल में
तुम्हें बतावेंगे उस गुप्त रहस्य को–
जिसका सोकर स्वप्न देखते हो अभी

मानव-जाति बनेगी गोधन, और जो
बनकर' गोपाल घुमावेंगे उन्हें–
वही कृष्ण है आते इस संसार में
परमोज्ज्वल कर देंगे अपनी कान्ति से
अन्धकारमय भव को, परमानन्दमय
कर्म-मार्ग दिखलावेंगे सब जीव को

यमुने! अपना क्षीण प्रवाह बढ़ा रखो
और वेग से बहो, कि चरण पवित्र से
सङ्गम होकर नील कमल खिल जाय
व्रजकानन! सब हरे रहो, लतिका घनी–
हो होकर तरुराजी से लिपटी रहे
कृष्णवर्ण के आश्रय होकर स्थित रहे
घन! घेरो आकाश नीलमणि-रङ्ग से
जितना चाहो, पर अब छिपने की नहीं
नवल ज्योति वह, प्रकटित होगी जो अभी
भव-बन्धन के खुलो किवाड़ो! शीघ्र ही
परम प्रबल आगमन रोक सकती नहीं

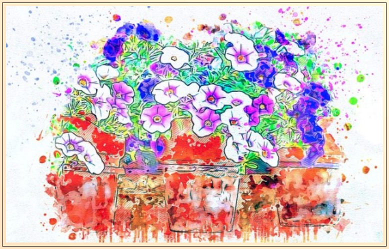
यह श्रृंखला, तुम्हारे में हो जो लगी
दिव्य, अलौकिक हर्ष और आलोक का–
स्वच्छ स्रोत खर वेग सहित बहता रहे
खल-दृग जिसको देख न सके, न सह सकें

जलदजाल सा शीतलकारी जगत् को
विद्युद्वृन्द समान तेजमय ज्योति वह
प्रकट हुई, पपिहा-पुकार-सा मधुर औ'–
मनमोहन आनन्द विश्व में छा गया
बरस पड़े नव नीरद मोती औ' जुही

•••

जयशंकर प्रसाद

चित्राधार



[हिन्दीकोश]

चित्राधार

सूची

अयोध्या का उद्धार



महाराज रामचन्द्र के बाद कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती इत्यादि राज्य मिले तथा अयोध्या उजड़ गई। वाल्मीकि रामायण में किसी ऋषभ नामक राजा द्वारा उसके फिर से बसाए जाने का पता मिलता है। परन्तु महाकवि कालिदास ने अयोध्या का उद्धार कुश द्वारा होना लिखा है। उत्तरकाण्ड के विषय में लोगों का अनुमान है कि वह बहुत पीछे बना। हो सकता है कि कालिदास के समय ऋषभ द्वारा अयोध्या का उद्धार होना न प्रसिद्ध रहा हो। अस्तु, इसमें कालिदास का ही अनुसरण किया गया हैं।

~ लेखक।

अयोध्या का उद्धार

“नव तमाल कल कुञ्ज सों घने
सरित-तीर अति रम्य हैं बने।
अरध रैनि महँ भीजि भावती
लसत चारु नगरी कुशावती”॥

युग याम व्यतीत यामिनी
बहुतारा किरणालि मालिनी।
निज शान्ति सुराजय थापिके
शशिकी आज बनी जु भामिनी॥

विमल विधुकला की कान्ति फैली भली है
सुललित बहुतारा हीर-हारावली है।
सरवर-जलहूँ में चन्द्रमा मन्द डोलै
वर परिमल पूरो पौन कीन्हे कलोलै॥

मन मुदित मराली जै मनोहारिनी है
मदकल निज पीके संग जे चारिनी है।
तहँ कमल-विलासी हँस की पांति डोलै
द्विजकुल तरुशाखा में कबौं मन्द बोलै।

करि-करि मृदु केली वृक्ष की डालियों से
सुनि रहस कथा के गुंज को आलियों से।
लहि मुदित मरन्दै मन्द ही मन्द डोलै
यह विहरण-प्रेमी पौन कीन्हे कलोलै॥

विशद भवन माहीं रत्न दीपांकुराली
निज मधुर प्रकाशै चन्द्रमा मैं मिलाली।
बिधुकर-धवलाभा मन्दिरों की अनोखी
सरवर महँ छाया फैलि छाई सुचोखी॥

विविध चित्र बहु भांति के लगे
मणि जड़ाव चहुँ ओर जो जगे।
महल मांहि बिखरवाती विभा

मधुर गन्धमय दीप की शिखा॥

कुशराज-कुमार नींद में
सुख सोये शुचि सेज पै तहां।
बिखरे चहुँ ओर पुष्प के
सुखमा सौरभ पूर है जहां॥

मुखचन्द अमन्द सोहई
अति गम्भीर सुभाव पूर है।
अधिरानहि-बीच खेलई
मुदु हाँसी सुखमा सुमूर है॥

तहँ निद्रित नैन राजहीं
नव लीला मय शील ओज हैं।
मनु इन्दुहि मध्य साजहीं
युग संकोचित-से सरोज हैं॥

तहँ चारु ललाट सिन्धु में

नहि चिन्ता लहरी बिराजही।
अति मन्दहि मन्द कान में
मनुवीणा ध्वनिसों सुबाजही॥

बढ़ि पञ्चम राम मैं जबै
सुविपञ्ची ध्वनि कान में पड़ी।
जगि के तहँ एक भामिनी
अध मूंदे दृग ते लख्यो खड़ी॥

पुतरी पुखराज की मनो
सुचि सांचे महँ ढारि के बनी।
उतरी कोउ देव-कामिनी
छवि मालिन्य विषादसों सनी॥

कर बीन लिए बजावती
रजनी में नहिं कोउ संग है।
बनिता वर-रूप-आगरी
सहजै ही सुकुमार अंग है॥

कल-कण्ठ-ध्वनि सु कोमला
मिलि वीणा-स्वर सों सुहात है।
कुश नीरव ह्वै लखै सुनै
जनु जादू सबही लखात है॥

“तुम वा कुल के कुमार हो
हरिचन्द्रादि जहां उदार से।
निज दुःख सह्यो तज्यो नहीं
सत राख्यो उर रत्न-हारसे॥”

“अनरण्य दिलीप आदि ने
जेहिको यत्न अनेक सों रच्यो।
रघुवंश-जहाज सो लखो
यहि साम्राज्य महाब्धि में बच्यो॥”

“अनराजकता तरंग में
फँसि के धारनि बे अधार है।
तेहि को सबही यही कहै

“कुश” याको वर-कर्णाधार है॥

“तब वंश सुकीर्ति को सबै
अनुहास्यो उदधी वहै अजै।
निज कूलन सों बढ़ै नहीं
अरु मर्य्यादहुँ को नहीं तजै॥

“जेहि कीर्ति-कलाप-गंध सों
मदमाती मलयानिलौ फिरै।
हिम शैल अधित्यकान लौं
सबको चित आनन्द सों भरै॥”

“जेहि वंश-चरित्र को लिखे
कवि वाल्मीकि अजौ सुख्यात है।
तुमही! निज तात सामुहे
शुचि गायो वह क्यों भुलात है॥”

“जेहि राम राज्य को सदा

रहिहै या जग मांहि नाम है।
तेहि के तुमहुँ सपूत है।
चित चेतो बिगर्‌यो न काम है॥"

"तुम छाइ रहे कुशवती
अरु सोये रघुबंश की ध्वजा।
उठि जागहु सुप्रभात है
जेहि जागे सुख सोवती प्रजा॥"

नीरव नील निशीथिनी
नोखी नारि निहारि।
विपति-विदारी वीरवर
बोले बचन बिचारि॥

"देवि! नाम निज धाम,
काम कौन? मोते कहौ।
अरु तुम येहि आराम–
मांहि आगमन किमि कियो?"

“तुम रूप-निधान कामिनी
यह जैसी विमला सुयामिनी।
रघुवंशहि जानिहो सही
परनारी पर दीठ दैं नहीं॥”

“तुम क्यों बनी अति दीन?
क्यों मुख लखात मलीन?
निज दुःख मोहिं बताउ
कछु करहुं तासु उपाउ॥”

“जब लों करवाल धारिहैं
रघुवंशी दृढ़ चित्त मान के।
कुटिला भृकुटि न देखिहैं
सुरभि, ब्राह्मण औ तियान के॥”

शोचहु न चित्त महँ शंक नाहीं
मोचहु बिषाद निज हीय चाहि।

ईश्वर सहाय लहि ह्वै सहाय
मेंटहुँ तुम्हार दुख, करि उपाय॥"

सुनि अति सुख मानी सुन्दरी मंजु बानी
गदगद सु गिराते यों कह्यो दीन-बानी।
"तुम सुमति सुधारी ईश पीरा निवारी
अब सुनहु बिचारी है, कथा जो हमारी॥

"सुख-समृद्धि सब भांति सो मुदा
रहत पूर नर नारी ये मुदा।
अवध-राज नगरी सुसोहती
लखत जाहि अलकाहु मोहती॥"

"इक्ष्वाकु आदिक की विमल–
कीरति दिगन्त प्रकासिता।
सो भई नगरी नाग-कुल–
आधीन और विलासिता॥
नहि सक्यौ सहि जब दुःख

तब आई अहौं लै के पता।

सो मोहिं जानहुं हे नरेन्द्र!अ

वध नगर की देवता॥

“जहँ लख्यो विपुल मतंग—

तुंग सदा झरै मदनीर को।

तहँ किमि लखै बहु बकत

व्यर्थ शृगालिनी के भीर को॥

जहँ हयन हेषा बिकट—

ध्वनि, शत्रु-हृदय कँपावती।

तहँ गिद्धनी-गन ह्वै सुछन्द

विहारि कै सुख पावती॥”

जहँ करत कोकिल कलित—

कोमल-नाद अतिहि सुहावने।

सो सुनि सकत नहिंका, काकन

के कुबोल भयावने॥

जहँ कामिनी कल-किंकिनी

धुनि सुनत श्रुति सुख पावहीं।
तहँ बिकत झिल्लीरव सुनत
सुकहत नहीं कछु आवहीं॥

“कुमुद” नाम इक नाग वंश है
समुझि ताहि यह वीर अंश है।
बिगत राम जनहीन दीन है
निज अधीन करि ताहि लीन है॥

उजरी नगरी तऊ तहां।
मणि-माणिक्य अनेक हैं परे।
तेहि को अधिकार में किये
सुख भोगै सब भांति सो भरे॥

रघु, दिलीप, अज आदि नृप,
दशरथ राम उदार।
पाल्यो जाको सदय ह्वै,
तासु करहु उद्धार॥

निज पूर्वज-गन की विमल–
कीरति हू बचि जाय।
कुमुद्वती सम सुन्दरी,
औरहु लाभ लखाय॥

सुनि, बोले वरवीर
“डरहु न नेकहु चित्त में
धरे रहौ उर धीर,
काल्हि उबारौं अवध को॥”

भोर होत ही राजसभा में
बैठे रघुकुल-राई।
प्रजा, अमात्य आदि सबही ने
दियो अनेक बधाई॥
श्रोत्रिय गनहि बुलाई, सकल–
निज राज दान कै दीन्ह्यो।
और कटक सजि, अवध नगर

के हेतु पयानो कीन्ह्यो॥

जब अवध की सीमा लख्यो
तब खड़े ह्वै सह सैन के।
अरु कुमुद पहँ पठयो तबै
निज दूत, शुचि सुख दैन कै॥

“बिनु बूझि तुम अधिकृत कियौ
यह अवधि नगरि सुहावनी।
तेहि छोड़ि कै चलि जाहु,
नतु संगर करौ लै कै अनी॥”

वह तुरत आओ सैन लै,
रन-हेतु कुश कै सामुहे।
इतहूँ सुभट सब अस्त्र लै
तहँ रोष सों सबही जुहे॥
तहँ चले तीर, नराच, भल्ल,
सुमल्ल सबही भिरि गये।

तरवारि की बहु मारि बाढ़ी
दुहूँ दल के अरि गये॥

बढ़यो क्रोध करि कुश कुमार
धनु को टंकारत।
प्रबल तेज शरजाल छाड़ि
चहुँ दिशि हुँकारत॥
अम्बर-अवनिहि एक कीन्ह,
शर सों सब छायो।
अरगिन भरि-भरि नीर नैन
भागे मग पायो॥

कुश-प्रभाव लखि हीन होय के,
कुमुद आप हिय माहिं जोय के।
निज निवास महँ जायके छिप्यो
तबहि दूत कुश को तहाँ दिप्यो॥

परमा रमणी कुमुद्वती

धन-रत्नादि संग लै,
कुश को मिलि तोष दीजिये
नहिं तो सैन सज़ाव जंग लै॥

यहि मैं लखि निस्तार
कुमुद चल्यो कुश सों मिलन।
विविध रत्न उपहार
लै बहु धन निज संग में ॥

आयो तहँ कर जोरि,
कुमुद कुमुद्वति संग लै।
बोल्यो बचन निहोरि,
व्याहहु याको राज लै॥

सुन्दरि के दृग-बान
लखे रोष सबही गयो।
छाड़यो शर संधान
अवध माँहि तबही गयो॥

कुल लक्ष्मी परताप
लख्यो सबै सुखमय नगर।
मिट्यो सकल सन्ताप
बैठे सिंहासन तबै॥

कुश-कुमुद्वती को परिणय
सबको मन भायो।
अवध नगर सुखसाज
महा सुखमा सो छायो॥

●●●

वन-मिलन

अरुण विभा विलसित-हिम-शृंग मुकुटवर छाजत।
मालिनि मन्द प्रवाह सुखद-सुदुकूल विराजत॥
तरुगन राजि कतहुँ मरकत-हारावलि लाजै।
सांचहु भूधरनृपति समान हिमालय राजै॥

तेहि कटि तट महँ कण्व—महर्षि तपोवन सोहैं।
सरल कटाक्षन ते हरिनी जहँ मुनि-मन मोहै॥
सरस रसाल, कदम्ब, तमालन की सुचि पांती।
धव, अशोक, अरु देव दारु, तरुगन बहुभांती॥

नव-मल्लिका, कुंद, मालती, बकुल अरु जाती।
चम्पक अरु मन्दार केतकी की बहु पांती॥
सुमन लिये साखा सह हिलत वायु के प्रेरित।
सौरभ सुभग बगारत जासों बन है सुरभित॥

वल्कल-वसन-विभूषित अंग सुमन की माला।

कर्णिकार को कर्नफूल विसवलय विसाला॥
कुंदकली-सों कलित केश-अवली भल राजत।
चम्पक-कलिका-हार सुरुचि गल-बीच विराजत॥

सुन्दर सहज सुभाव बदन पर मुनि-मन मोहैं।
सूधी बिमल चितौन मृगन से नैन लजोहैं॥
जेहि पवित्र मुख भाव लखे सबही सुर नारी।
निज बिलोल नव-हास विलासहिं करती वारी॥

बैठी मालिनि तीर सुभगवेतसी-कुंज में।
विलसत परिमल पूर समीरन केश-पुंज में॥
युगल मनोहर बनबाला अति सुन्दर सोहैं।
"प्रियम्बदा-अनुसूया!" जाके नाम मिठोहैं॥

"री अनुसूया! देखु सामुहे चम्पक-लतिका।
भरी सुरुचि सुकुमार अंग-अंगन मों कलिका॥
मन-ही-मन कुम्हिलात खिलत बेहाल विचारी।
'प्रियम्बदा' दृग भरि बोली उसास लै भारी॥

“कोमल-किसलय माहिं कली धारति अलबेली।
कुंदन-सों रंग जासु गढ़न मन हरन नवेली॥
अपर कुसुम-कलिका सों करत फिरे रंगरेली।
याहि न पूछत कोउ मधुकर सब ही अवहेली॥”

“यामें मधुर मरन्द, पराग, सुगन्ध सबै है।
सुन्दर रूप, सुरंग, जाहि-लखि और लजै है॥
पै रूखे परिमल पै सबही नाक चढ़ावत।
जैसे सूधो भाव न सब को हिय ललचावत॥

“मातो मधुकर ह्वै मधु-अंध, विवेक न राखै।
मुरि मुसुक्यान मनोहर कलियन को अभिलाखै॥
सूधी चम्पक-लता नहीं जानत रस केली।
यहि विचार कोउ मधुकर नहिं अंकहि निज मेली॥”

“इनको कुटिल स्वभाव कोऊ इनको का दोखै।
स्वारथ रत परपीर नहीं जानत किमि तोखै॥
पाई समीपहिं जाही सो वाही सों पागैं।
ये तो परम विलासी, नहिं जानत अनुरागैं॥”

बोली ‘अनुसूया’ यों–अनखि “तोहिं का सूझी।
जा बिनही बातन पर, बातन माहिं अरूझी॥
तुम बनबासी कोउ दूजो–नहिं सुनिबे वारो।
बन में नाच्यो मोर कहो किन आइ निहारो?”

“बहु लतिका तरु वीरूध, जे मम बाल सनेही।
तिनको सिञ्चन करहु, अहै तुव कारज एही॥
यह अशोक को पादप जामे किसलय कोमल।
औरहु परम रसाल लखहु करुना कदम्ब भल॥”

“अहै माधवी लता मृदुल-कलिका-नव धारति।
‘शकुन्तला’ के विरह-अश्रु की बूँद पसारति॥
निज मृनाल-सी बाहनि सों भरि गागरि आनी।
जाको सांझ-सबेरे सींचति दै-दै पानी॥”

“ये सब सींचन हेतु अबहिं-बातें तुम करतीं।
कुसुम चूनिबो और अहै, क्यों बरसत अरतीं॥
शकुन्तला को नाम सुने दूजी यों बोली–

क्यों हक नाहक दबी आग यों कहि पुनि खोली॥

पाइ राज-सुख सखियन को निज हाय! बिसारी।
बहुत दिवस बीते, निज-खबर न दीन्हीं प्यारी॥
अहो गौतमी हू कछु कहत न रजधानी की।
मम बन-बासिनि सखी जु शकुन्तला-रानी की॥"

"नगर नागरी महरानिन के सैन अनोखे।
वह सूधी बन-बाला पिय को कैसे तोखे॥
जाने दे, बिन काज कहा बैठी बतरावत।
पाइ पिया को प्रेम सखिहिं किन पूछन आवत!

अबहिं शुकहिं आहार देइबो हैं हम वारी।
बहुत अबेर भई सु कुटीरहिं चलिये प्यारी॥"
तब कश्यप को शिष्य तहां गालव चलि आयो।
"कण्व कहां है?" पूछ्यो तिनसों अति हरषायो॥

"अग्निहोत्र-शाला में"—कहि दोनों बन-बाला।
कुसुम-पात्र लीन्हों उठाइ मालति की माला॥

लजत मराली गमन लखे, वे दोनों आली।
वल्कल-वसन समेटि चली लै कुसुल उताली॥

कोकिल सों निज स्वर मिलाइ बहु बोलत बोली।
निज आश्रम पै पहुँचीं वे सब करत ठिठोली॥
कुसुम-पात्र धरि गुरु-समीप निज सिरहि झुकाई।
वन्दन कर बैठीं वे, मनकी मनहिं दुराई॥

बोल्यो गालव करि प्रणाम ऋषिवर को कर सों—
"लै संदेस हम आये हैं अपने गुरुवर सों॥
महाराज दुष्यन्त सहित निजसुत प्रियवर के॥
शकुन्तला-सँग मिले, शाप छूट्यो मुनिवर के॥

"बहु ब्रत धारि अनेक कष्ट सहि पुनि सुख पायो।
सुखद पुत्र मुख चन्द्र देखि अति हिय हरषायो॥
दलित कुसुम अपमानित-हिय, बाला बेचारी।
शकुन्तला निज पति-सुख पायो पुनि सुकुमारी॥

गद्‌गद कण्ठ, सिथिल-बानी पति ही सुखसानी।

बोले कण्व-महर्षि अनूपम, अविकल ज्ञानी।
"सबही दिन नहिं रहत दुःख संसार मँझारी।
कहुं दिन की है जोति कहूँ है चन्द्र उजारी॥"

प्रियम्बदा अनुसूया हूँ अति ही हिय हरषा।
आनन्दित ह्वै सुखद अश्रु निज आँखिन बरषी॥
पायो जब संवाद मनोहर निज अभिलाषित।
भयो प्रफुल्लित तबहिं वहै, तप-वन चिर-तापित॥

"हेमकूट ते उतरि मरीची के आश्रम सों।
आवत हैं दुष्यन्त-सहित निजी श्री अनुपम सों।"
मातलि आय कह्यो ज्यों ही, सब ही हिय हुलसे।
तहं आनन्दमय ध्वनि उठी तबहीं ऋषिकुल से।

शकुन्तला दुष्यन्त, बीच में भरत सुहावत।
धर्म, शांति, आनन्द, मनहुँ साथहिं चलि आवत॥
देखत ही अकुलाय उठीं, तुरतहिं बन बाला।
प्रियम्बदा, अनुसूया, बिकसीं ज्यों मृदु माला॥

भाट सखी-गन सों, तबही वह रोवन लागी।
हर्ष-विषाद असीम, आनन्दित ह्वै पुनि पागी।
शकुन्तला निज बाल-सखी गल सों कहुँ लागै।
बढ़यो अधिक आवेग माहिं, नहिं गल भुज त्यागै॥

करुण, प्रेम प्रवाह बढ़यो, वा शुद्ध तपोवन।
बरसन लग्यो मनोहर मंजुल मुंद आनंद-घन॥
श्रद्धा, भक्ति, सरलता, सब ही जुरी एक छन।
चित्र-लिखे-से चुप ह्वै देखत खड़े एक मन॥

कछुक बेर पर कण्व-चरण पर निज सिर नाई।
करि प्रणाम कर जोरि, खड़े भै बिधुकुल-राई॥
कुशल पूछ पुनि कण्व, दियो आशीष अनूपम।
भरतहुँ पुनि कीन्ह्यो प्रणाम, लहि मोद महातम॥

शकुन्तला सों पालित तब, वह मृग तहं आयो।
सिर हिलाई अरु चरण-चूमि आनन्द जनायो॥
माधवि लता मनोहर की निज करते मरस्यो॥
वह तप-वन तब अधिक-मनोरम ह्वै सुचि दरस्यो॥

यज्ञ-भूमि को करि प्रणाम, आनन्द समैठे।
पूर्व मिलन के कुञ्ज मांहि, कछु छन सब बैठे॥
शकुन्तला, दुष्यन्त, भरत, मालिनी के तीरन।
बन-बासिनि वाला-युग के सँग लागी बिहरन॥

प्रियम्बदा मुख चूमि भरत को लेत अंक में।
शकुन्तला अनुसूया सँग बिहरत निशंक में॥
निजी बीते दिवसन की सुमधुर कथा सुनावत।
चुप ह्वै के दुष्यन्त सुनत, अति ही सुख पावत।

सरल-स्वभावा बन-बासिनि, वे सब बरबाला।
कथानुकूल सुधारत भाव—अनेक रसाला॥
पति सों बिछुरन-मिलन समय की कहि बहु बातें।
चिर दुखिया आनन्दित ह्वै सब मोद मनाते॥

प्रियम्बदा तब दुष्यन्तहिं दीन्हों उराहनो।
अहो परम धार्मिक, तेरी है बहु सराहनो॥
शकुन्तला को शाप हेतु विस्मृत तुम कीन्हों।

याही वन हम रहीं, खोज हमरी हू लीन्हों?

“अहो होत है अधिक निठुर–नर सब, नारी सों।
जों लौं मुख सामुहे अहैं तौ लौ प्यारी सों॥
नहिं तो कौन कहां, को, कैसो, कासों नाते।
बहु दिन पै जो मिलै, – तबौ पूछी नहिं बाते ॥”

अनुसूया हँसि बोली– “ये तो अति सूधे हैं।
इनको यहै स्वभाव कहा यामे तू पैहैं॥
शकुन्तला मुसक्याई कह्यो– “जाने दे सखियो॥
इनके सब बातन को अपने हिय में रखियो॥

अब यह मेरी एक विनय धरि ध्यान सुनै तू।
इनके विमल, चरित्रन को नहिं नेक गुनै तू॥
जामें फिर नहिं बिछुरैं, सब यह ही मति ठानो।
सदन हमारे संग चलो अति ही सुख माने॥”

यज्ञ-प्रज्वलित बन्हि, लखे सब ही प्रणाम किय।
कण्व-महर्षि आनन्दित को अभिवन्दन हू किय॥

शकुन्तला कर जोरि पिता सों हिय सकुचाती।
कह्यो– “विनय करिबो-कुछ है पै नहिं कहि आती॥”

बोले कण्व– “कहो, जो कछु तुमको कहनो है।”
शकुन्तला ने कह्रो– “सखी-संग मोहिं रहनो है॥
इन सखियन के बिना अहो हम अति दुख पायो।”
कण्व “अस्तु” कहि सबको अति आनन्द बढ़ायो॥

कञ्चन कंकन किंकिनि को कलनाद सुनावत।
नन्दन-कानन-कुसुमदाम सौरभ सौ छावत॥
निज अमन्द सुचिचन्द–बदन सोभा दिखरावत।
जगमगात जाहिरहि जवाहिर को चमकावत॥

निज अनूप अति ओपदार आभा दिखरावत।
चञ्चल चीनांशुक अञ्चल को चलत उड़ावत॥
केश कदम्बन कलित कुसुम-कलिका बिखरावत।
मञ्जु मेनका को देख्यो सब उतरत आवत॥

यथा उचित अभिवंदन सब ही कियो परस्पर।

शकुन्तला माता सों लपटी अतिहि प्रेम भर॥
भरत-चन्द्रमुख चूमि भइ वह हिय सों हरषित।
प्रियम्बदा-अनुसूया सिरा कीन्हों कर परसित॥

कण्व दियो आसीन जाहु सब सुख सों रहियो।
जीवन के सब लाभ प्रेम परिपूरित लहियो॥
चिर बिछुरे सब मिले हिये आनन्द बढ़ावन।
मालिनी-तरल-तरंग लगी मंगल को गावन॥

●●●

प्रेम-राज्य (पूर्वार्द्ध)

बाल विभाकर सोहत, अरुण किरण अवली सों।
कृष्णा क्रीड़त निजनव, तरलित जल लहरीसों॥
मलयजधीर पवन बन—उपवन महँ सञ्चरहीं।
कोकिल कुल कलनाद करत अति मधुर विहरहीं॥

टालीकोट सुयुद्धभूमि में प्रवलदुहूं दल।
सूर्य्यकेतु महाराज, विजयनगरेश महाबल॥
प्रतिपक्षी बहु यवन राज, मिलि सैन सजायो।
बीरकर्म अरु कादरता, को दृश्य दिखायो॥

सिंहद्वार पर खड़े नरेश लखैं सेना को।
बांधवराजे यूथप सँगघेरैं बहुनाको॥
सेनापति सह सैन्य, युद्धभूमिहि चल दीन्हो।
पांच वर्ष को बालक इक आगमन सुकीन्हो॥

चन्द्रोज्ज्वल मुख मधुर, विमल हाँसी को धारत।

सहज सलोने अंग, मनोहर ताहि सँवारत॥
तब नरेश निज सुतके मुख सुख में अति पागे।
हिये लाइ आनन्द सहित, मुख चूमन लागे॥

कह्यो "प्रिया को विरह, तुमहिलखि सबहि बिसारी।
किन्तु वत्स यह वीरकर्म्म, कुलप्रथा हमारी॥
सो अब तुमहि त्राण की आशा हिय महुँ धारौ।
काहि समर्पहूँ तुमहिं चित्त नहिं कुछ निरधारौ॥"

आयो तहँ इक भील—यूथपति दुहुँ करजोरे।
चरनन पै सिरनाइ, कह्यो अति वचन निहोरे—
"महाराज! यह राजकुंवर हमको दै देहू।
राखैंगे प्रानन प्यारे को सहित सनेहू॥

अनुज एक सह भील, सैन्य आज्ञा पालन को।
आपहिं की सेवा में है सेना चालन को॥
हिम गिरि कटि महँ, इनको लै हमहूँ चलि जैहैं।
शत्रु न कोऊ इनको, खोजनते कहुँ पैहैं॥

जब हम सुनिहैं विजय आपकी तो पुनि ऐहैं।
कीन्हैं नेक बिलम्ब न यामें कछु फल ह्वै हैं॥
“अस्तु” कह्यो पुनि शिरहि सूंघि आलिंगन कीन्हों॥
बालक को मुख चूमि, तुरत भीलहि दै दीन्हों॥

“दादा” कहि अकुलाइ उठ्यो तबहिं वह बालक।
नैनन मों भरि नीर कह्यो नरगन के पालक॥
“दादा” येही हैं तुम्हरे, इनहीं को कहियो।
मेरे जीवन प्रान, सदाही सुखसे रहियो।”

यों कहि के मुख फेरि, अश्व पै निज चढ़ि लीन्हों।
खींचि म्यानते खड्ग, युद्ध सन्मुख चलि दीन्हों॥
आवतही नरनाह, देखि सब छत्री सेना।
अति उमगित भइ अंग आनन्द अटैना॥

वीर वृद्ध महाराज, बदन पर हाँसी रेखा।
सब को हिय उत्साहित कीन्हों सब ही देखा।
जयतु जयतु महाराज, कह्यो तब सबही फौजैं।
जलधि बीर रस में, ज्यों उमड़ि उठी बहु मौजैं॥

फरकि उठे भुजदण्ड, वीर रससों उमगाहे।
चमकि उठीं तरवार, वर्म्म अरु चर्म सनाहें॥
सैना करि द्वै भाग, एक सैनप को सौंप्यो।
अरु एकहि लै आप, अकेले रनको रोप्यो॥

तब हर हर कहि कीन्ह्यो धावा शत्रुन ऊपर।
गरुड़ करत जिमि धावा, पन्नग प्रबल चमू पर॥
भिड़े वीर दुहुँ ओर चली, कारी तलवारैं।
एक वीर सिर हेतु, अप्सरा तन मन वारैं॥

दाबि लियो क्षत्रीन, यवन के सब सेना को।
भागन को नहिं राह, घेरि लीन्हों सब नाको॥
विकल कियो तरवार मारसों व्यथित भये सब।
भागे यवन अनेक, लखै जहँही अवसर जब॥

ह्वै रणमत्त परे तबही सब पीछे छत्री॥
तुरतहिं मारै ताहि, जबहि देखैं कोउ अत्री॥
करि कादरता कछुक, यवन जे रन सों भागे।

तेऊ मिलि तब लीन्ह्यो, घेरि बीर-पथ त्यागे॥

उन क्षत्रिन संग महाराज, तिनमहं घिरि गयऊ।
सेनापति तहं तिनहि, छुड़ावन को नहिं अयऊ॥
अहो! लोभ बस करत, काज कैसे नर नारी॥
करत आत्म-मर्यादा, धर्म्म सबहि को वारी॥

राखत कछुक विचार नहीं यह पुन्य पाप सों।
निज तृष्णा को सींचत, नर नित आस “भाप” सों॥
नित्य करत जो पालन, तासों करत महाछल।
बहु विधि करत उपाय, बढ़ावन को अपनो बल॥

चाहत जासों जौन, करावत है यह तासों।
याको काउ जीतत नहिं हारे सब यासों॥
करिके बीर कर्म्म अरु लरिके निज अरगिन सों।
राखि स्वधर्म महान, टर्‌यो नहिं अपने पन सों॥

मारि म्लेच्छतम करि, अनूप बहु बीर काम को।
सूर्य्यकेतू तब गये, सुखद निज अस्तधाम को॥

विश्वम्भर के शांत अंक महँ आश्रय लीन्हों।
आशुतोष तब आशु-शान्ति अभिनव तेहि दीन्हों॥

“भारतभूमि धन्य तुम, अनुपम खान।
भये जहां बहु रतन, अतुल महान॥

भये नृपति जहं इक्ष्वाकु बलवान।
जहां प्रियव्रत जनमे, विदित जहान॥

भये नृपति सिरमौर जहां दुष्यन्त।
जन्म लियो जहँ भरत सुकीर्त्ति अनन्त॥

जम्बूद्वीपहिं बांट्यो, करि नवखण्ड।
निज नामते बसायो, भारतखण्ड॥

जिनके रथ सहसारथि, नभलौं जाहिं।
जिनके भुजबल–सागर को नहिं थाहि॥

जिनके शरण लहे, निर्विघ्न सुरेश।
अमरावती विराजहिं, चारु हमेश॥

जिनके प्रत्यञ्चा की, सुनि टनकार।
अरिशिर मुकुटमणिन को सहै न भार॥

भये भीष्म रणभीष्म, हरण अरिदर्प।
जामदग्नेिते रच्यो समर करि दर्प॥

जिनकी देव प्रतिज्ञा की सुख्याति।
गाइगाइ नहिं वाणी अजहुं अघाति॥

विजय भये जिन भये पराजय नाहिं।
जिनके भुजबल ते, प्रसन्न ह्वै चाहि॥

दियो पाशुपत व्योमकेश त्रिपुरारि।
कियो दिग्विजय डारयो शत्रुन मारि॥

जिनके क्रोध अनल महँ, स्रुवा नराच।
आहुति अक्षौहिणी, भई सुनु सांच॥

वसुन्धरे तव रक्त–पिपासा धन्य।

मरी जहां चतुरंगिनि सैन अगन्य॥

करि कुकर्म्म यह जब वह, क्षत्री-कुल-कलंक-अति।
सेनापति यवन के, सैनप पहं निशंक मति॥
गयो लेन निज पुरस्कार, तब सब उठि धाये।
मातृ-भूमि-द्रोही कहि, अति उपहास बनाये॥

तब अति क्षुब्ध चित्त, गृहको वह लौटन लाग्यो।
देख्यो गृह के द्वार, एक बाला मन पाग्यो॥
गृह में देख्यो नाहिं कोउ अति कुण्ठित भो हिय।
ललिता को लीन्ह्यो उठाइ, अरु मुख चुम्बन किय॥

रोइ कहन लागी बाला, तब अति दुख सानी।
"छाड़ि मोंहि जननी हू, गई कहाँ नहिं जानी॥"
पुनि लखि बाला कर महं, पत्र एक अति आकुल।
लीन्हों ताहि पढ़न को, तब वह सैनप व्याकुल॥

पढ्यो ताहि "नहि अहौ-अहौ तुम पती हमारे।
तुम्हरे सन्मुख महाराज, किमि स्वर्ग सिधारे॥

तुम आशा भय बाला को, लीन्हें हिय पोखौ।
तुमहि क्षमा हित स्वर्ग-माँहि महराजहिं तोखौ॥"

वह निराश निज हृदय, लिये तबही कुलघालक।
कीन्हों उत्तर गमन, तबै सेना को पालक॥
कृष्णा की नव तरल बीचि, अति कृष्णा लागै।
अरु वह मलयजपवन नाहि बहि हिय अनुरागै॥

•••

प्रेम-राज्य (उत्तरार्द्ध)

सुरसरि-तीर तमाल-कुञ्ज, श्यामल बनराजी।
हिमगिरि धवल उतुंग, सुछाया जल महँ छाजी॥
कुसुम सहित तरवर, की साखा जल भल परसत।
परिमल पूर प्रभञ्जन-सों जहँ जन मन हरषत॥
कोकिल, कीर, मराल कलनाद करत जहँ विलसहीं।

विकच कमल मकरन्द, मधुकर को मन हुलसहीं॥

नवल प्रफुल्ल रसाल, बाल पादप के छाँहीं।
बैठी बाला! एक सुभग, श्री अँग अँग माँहीं॥
कुसुम कलिनसों बने, मनोहर भूखन सोहैं।
सहजहिं छवि छलकति, जहं दोऊ नैन हँसौहैं॥
कलसी जल भरि धरि रही, मृगछौना थिर सामुहै।
कर पर कीर मराल ढिग, सिखी वृन्दहू जहँ जुहे॥

चकित नयन ते लखत, पवन क्रीड़त अलकन सों।
विमल वीचि के बीच झुकत झूमत कलमन सों॥
कोकिल को कलनाद, सुनत धरि ध्यान रसाला।
चतुर चितेरे चित्रित, सों ह्वै रहि वह बाला॥
लखि मूरति शान्त सुरसरी हू को मन्द प्रवाह है।
कुञ्जन में छपिके सुमन, देखत सहित उछाह है॥

उठी बाल धरिगति मराल-सी चली बकुलतर।
लागी अवचय करन, कुसुम सुकुमार निजहि कर॥
कदली पात बिछाई जतन-सों धरि ता ऊपर।

लागी गूँथन माला, छोटे बड़े मनोहर॥
कीरहिं, मगछौनहिं, सिखिहि, यथा उचित पहिरावहीं।
वेऊ नीचे गल किये, पहिरि मनो सुखपावहीं॥

यद्यपि मुख मुसुक्यान, छिपावत है कपोल में।
तद्यपि हाँसी उछलि रही है दृगविलोल में॥
सुधर दन्त की पांति, मनो मुकता चुनिराखे।
विमल कान्ति विधुमांहि, सुधाके बिन्दुहि राखे॥
सहज सुखद बालक वदन, रुचिसों देखत बनतही।
आवत है पग चांपिके, तरुओटन में छिपतही॥

कलकिशोर वय चारु, नवल यौवन के रँगसों।
वीर रसोज्ज्वल व्यञ्जक मजुल गठा सुअँगसों॥
दया वीर को प्रगट रूप सुमनोहर मोहत।
मदनहु बदन जुलखै, रहै ठाढो वहि जोहत॥
मोहत को नहिं माधुरी, छवि लखि हिय हरषात है।
तरुवर हरियालीन मैं, बालक विमल विभात है॥
बाला के दृग मींचि, कह्यो "हमको न जु बोलो?"

“चन्द्रकेतु“ कहि पुनि बोली, बाला “दृग खोलो॥”
उठे युगल हँसि दै दै, ताली मनसों हरषत।
मनहुँ सरदघन मोती की बूँदैं ज्यों बरसत॥

तारागन सह चन्द्र, लसै उज्ज्वल अम्बर में।
हीरन के ज्यों हार, निशा रानी के गर में॥
नवल चन्द्रिका की लहरैं, तरलित हिय करतीं।
विधु मण्डल ते विमल, सुधा बूँदैं ज्यों परतीं॥

नील समुज्ज्वल गगन, नील तरुवर की श्रेनी।
छाया सों नीलिमा-मयी सुरसरि सुखदेनी॥
हँसत सुधाकर तामें, रखि प्रतिबिम्ब मनोहर।
लखि स्वरूप गर्विता, आरसी ज्यों निज मुखवर॥

अमर तरंगिनि पुलिन, सिला पर युगल सुधाकर।
चन्द्रकेतु ललिता, सेवत समीर सुखआकर॥
भील बालकन की अवली, नीरद की पाँती।
धिरि बैठे हैं एक संग, अति छटा लखाती॥

भील बाल इस बोल्यो, “सुनिये सखा हमारे।
आजु मनोहर निशा, करो क्रीड़ा मिलि प्यारे॥
चन्द्रकेतु ललिता को, साजैं राजा रानी।
अरु सब सहचर प्रजा, आमात्य, सैन्य, सैनानी॥“

कुसुम कलिनसों गांछि, मनोहर मुकुट बनाई।
ललित मल्लिका हार, दियो गलमह पहिराइ॥
कोमल किसलय राखि, सिलहि सिंहासन साज्यो।
चन्द्रकेतु राजा बनि, ललिता-सह तहँ राज्यो॥

छोटे तीर कमान लिये, छोटे सब बालक।
छोटी सैन्य सजाइ, खड़े तहँ सेना पालक॥
भील बाल मिलि राज, साज, अति सुघर सजायो।
चन्द्रकेतु ललिताहूँ, तिनमहं मिलि सुख पायो॥

कोउ कहत “अब सब हम, बन आखेट करैंगे।
अरु नहिं जन काहूसों, अब हम कबहुँ डरैंगे॥“
कोउ कहत “अब पथिकन कहँ निर्भय लूटैंगे।
ऐसो राजा पाय, महोत्सव में जूटैंगे॥“

चन्द्रकेतु सुनि ये बातें बोल्यो अकुलाई।
“तुम सब क्यों पाषाणहृदय, कैसी कठिनाई॥
अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम।
शिवस्वरूप तिनमांहि, विराजत लखि सबही सम॥

यह विराट संसार तासु, अव्यक्त रूप है।
यामे अंगन की आभा, राजत अनूप है॥
शान्तिमयी दिग्वस्त्र सहित वह मनहर मूरति है।
चिताभस्म तनमय, पै शुचि हिमगिरिसों पूरति॥

चन्द्र सूर्य्य युगगैन, जबहिं वह अपने पेखत।
तबहीं तममय जगत मांहि नर आंखिन देखत॥
लखहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिनमहँ नागमणिन सम तारे लसत समुज्ज्वल॥

गरल, कण्ठ सबजन को दोष रहत धारे ही।
अग्नि नयन तीसरो, रहत पलकन आड़े ही॥
पराशक्ति वह प्रकृति, अंक महँ अति छबि छावत।

धर्म्म-वृषभ की असवारी, मन मँह शुचिभावत॥

लसत समीप षड़ानन, बाहनहूँ को देखो।
बीर सिंह चुप साधि, अहो बैठ्यो अवरेखो॥
तहँ गणेश को मूषक हू को करहू कल्पना।
पन्नगहू मन मारि, करत नहिं कछुक जल्पना॥

लखहु परस्पर परम, विरोधी कैसे शुचि सों।
पान करत वह प्रेम-सुरसरी-धारा रुचि सों॥
भूतनाथ सब भूतन सँग क्रीड़त है अविरल।
पशुपति निज पशुगन, प्रतिपालत प्रेम सहित भल॥

विशम्भर नित भरत और पोषत निज जन को।
तुम सब व्यर्थ विरोध-सहित धारत निज मन को॥
जौ यह अनुचित करहु, विरोध तबै सुनि लीजै।
निज विरोध मय राज्य, और काहू को दीजै॥

तेहि छिन तहँ इक वृद्ध, भील सन्मुख चलि आयो।
सजल नयन कर बाँधि, कह्यो मनसों हरषायो॥

“अहो अहै यह राज्य सबै विधि तुम्हरे लायक।
अब सो तुमहिं बनोगे, हम सबके वरनायक॥

शैशव सरल सँकोच सहित बोल्यो तब बालक।
“दादा” तुम तो सबही विधि हौ हमरे पालक॥
धाई लग्यो अकुलाइ, अंक मो ह्वै आनन्दित।
वृद्ध रुमाली अश्रुन सीचि कियो अति पुलकित॥

शान्त मुखाकृति तापस-वेश तहाँ इक आयो।
जेहि को देखत ललिता-मुख लज्जा सों छायो॥
चरण गह्यो अति आकुलता, संकोच भरी से।
तापस लियो उठाइ ताहि, सुचि सुमन छरी सो॥

बोल्यो तापस आशिष-सह आनँद हिय भर को।
चन्द्रकेतु के करपै धरि, ललिता के कर को॥
“बनदेवी स्वर्गीया-सुखमा ललिता तू है।
यह अनुरूप कुमार-हेतु सब लायक तू है॥

येहि सों तुम दोनों मिलि, प्रेम सुगाँठिहि बाँधो।

निज सुकुमार हृदय-मँह प्रेमहि को आराधो॥
गंगा यमुना के संगम सों प्रेम की धारा।
सो सींचो या बन्य देश को मधुर अपारा॥

ईश कृपाते नवविद्या, इन महँ परचारो।
इन असभ्य भीलन महँ राज्य थापि बिस्तारो॥
"जय राजा की" जय रानी की बोले बालक।
तब हँसि बोले भील वृद्ध बालक के पालक॥

"सूर्य्यकेतु निज सुतहिं, निसानी सब मोंहि दीनो।
आजु मिलि जोड़ी विधि, यह अति सुन्दर कीनो॥"
"चन्द्रकेतु मम स्वामी सुत, धन धन विश्वेश्वर।
चिरञ्जीवी मम वत्स, होहु तुम श्रीराजेश्वर॥"

दृग उठाइ लखि व्योम, कह्यो तापस कर जोरे।
"नाथ दास तुम्हरो यह, कीन्हो पाप घनेरे॥
क्षमा करहु अब कोप-दृष्टिते नहिं मोंहि देखो।
निज सुत और सुत पत्नी को कृपया अवरेखो॥

सहित स्नेह पुनि कह्यो, "सुखद" तुम सुखसों रहिये।
क्षमा प्रार्थना करन मोंहि, ईश्वर सों कहिये॥"
चन्द्रकेतु ललिता तब, दोनों कर घर लीनों।
कह्यो "अवज्ञा भई कौन, जो तुम तजि दीनों।"

भीलहि लखि पुनि कह्यों, "यतन हमहूँ ते करिहै।
लहि इकन्त हम कर्म्म हेतु अनुतापहि जरिहै॥"
यों कहि तापस दोनों के सिर पर कर राख्यो।
"विश्वेश्वर अब क्षमहुँ" अमृतमय मुखसों भाख्यो॥

चन्द्रकेतु को रतन, जटित सिर मुकुट पिन्हायो।
ललिता को मौक्तिका हार, गलमँह अतिभायो॥
पहिरतही वह रतन मुकुट मोती की माला।
अद्भुत परिवर्तन को धार्‍यो बालक बाला॥

वह किशोर नवचन्द्रकैतु ललिताहु किशोरी।
तन्मय लखत परस्पर इकटक अद्भुत जोरी॥
लखे नवल यह "प्रेमराज्य!" अति ह्वै आनन्दित।
चमकि उठ्यो नव चारु–चन्द्र तारागन वन्दित॥

•••

पराग

अष्टमूर्ति

सुरम्य शस्यावलि सों प्रपूरिता।
अनन्त सौन्दर्य्य विभा विराजिता॥
सुअन्न ते पालत है जहान को।
"धरा" धरै मूर्ति महा विधान को॥

उपाधि है जीवन जासु जीव की।
महाब्धि ह्वै राखत सत्य सीव को॥
असीम आनन्द तरंग पूर है।
प्रसन्न "कीलाल" सुविश्व मूर है॥

विशाल ज्वालावलि सों प्रभा भरी।
अमन्द आलोकहु ते जु सुन्दरी॥
हविष्य को चारु सुगन्ध है खरी।
लसै सु "वैश्वानर" मूर्ति माधुरी॥

अखण्ड ब्रह्माण्ड विभास है जहां।
अनन्त औ शून्य सुनील है महा॥
सहस्र संसार जहां बने रहैं।
असीम "आकाश" सुव्याप्त ह्वै रहैं॥

प्रभात में सुन्दर रूप धारिकै।
भ्रमे हुए पान्थ श्रमै निवारिकै॥
सु प्राणधारी-गन हेतु प्रान है।
"समीर" सौन्दर्य-भरी महान है॥

असंख्य नक्षत्रन के सुलोक को।
विराट-राजा-सम है अशोक को॥
प्रकाश सों पूर प्रभा पसारि कै।
"दिनेश" नाशैं अघ को प्रचारि कै॥

निशा सुराका मह मञ्जु भासि के।
कला दिखावैं सुखमा प्रकाासि के॥
सुधा-झरी-सी बरसै अमन्द है।
महान राजै नभ चारू “चन्द्र“ है॥

दुखी जनों के दुख को निवारि के।
सुखी करे धर्म्म महा प्रचारि के॥
आतिथ्य-सेवा-रत मोद को भरै।
मनुष्य सत्कर्म्म सुयज्ञ को करै॥

बसुन्धरा अम्बु, धनञ्जयादि में।
बिहायसी, पौन, दिनेश आदि में॥
शशांक औ सज्जन में सुभावती।
प्रभो, तिहारी सुखमा प्रभावती॥

कल्पना-सुख

हे कल्पना–सुखदान। तुम मनुज जीवन प्रान॥
तुम विसद व्योम समान। तव अन्त नर नहिं जान॥

प्रत्यक्ष, भावी, भूत। यह रंगे त्रिविध जु सूत॥
तव तानि प्रकृति सुतार। पट बिनत सुचि संसार॥

येहि विश्व को विश्राम। अरु कछुक जो है काम॥
सबको अहो तुम ठाम। तव मधुर ध्यान ललाम॥

तव मधुर मूर्त्ति अतीत। है करत हीतल सीत॥
व्याकुल करन को मीत। तुम करहु कबहुं सभीत॥

शैशव मनोहर चित्र। तुम रचहु कबहुँ बिचित्र॥
मनु धूल धूसर बाल। पितु गोद खेलत हाल॥

तव सुखद भावी मूर्ति। जेहि कहत आशा-स्फूर्ति॥
मनुजहिं रखै बिलमाय। जासो रहै सुख पाय॥

नवजात शिशु को ध्यान। हुलसावही पितु प्रान॥
वह कमल-कोमल-गात। जनु खेलिहै कहि तात॥

कहुँ प्रेममय संसार। नव प्रेमिका को प्यार।
कल्पित सुछाया चित्र। बहु रचहु तुम जग भित्त॥

तव शक्ति लहि अनमोल। कवि करत अद्‌भुत खेल॥
लहि तृण–सविन्दु तुषार। गुहि देत मुक्ताहार॥

जहं सुन्दरी के नैन। वह रचत तहं सुख दैन॥
जलजात के जुग पात। तह नील मनि सुविभात॥

येहि भाति कौतुक केलि। सब नियति को अवहेलि॥
जो करत नर सुख मानि। सो तव कृपा को जानि॥

तुम दान करि आनन्द। हिय को करहु सानन्द॥
नहि यह विषम संसार। तहँ कहां शान्ति बयार॥

मानस

मानस! तुम मानस सम विमल विशाल।
अगिनित वीचि बिलोल मनोहर माल ॥

उठत, चारु मिलि जात करत अति केलि।
तव तरंग अति मधुर सुधा अवहेलि॥

तव पुलिनोपरि बैठि मनुज मनमान।
सुनत अनोखी तव तरंग की तान॥

चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द, आदि बहु भेद॥

है यह मकर-निकर अरू मत्स्य की महान।
भरे रतन आशा मुकता की खान॥

चुँगत मौज भरि तेहि कल्पना-मराल।
बिहरत बहु विधि, "शोच" मरालिनि जाल॥

ग्रसत कबहुँ कल्पनाहि मकर महान।
व्यथित होत यह मानि दुःख अनजान॥

सूक्षम अति तव कंज-नाल की तन्तु।
तबहूँ है फँसि जात भयावह जन्तु॥

तव तरंग की सीमा यहि विधि नाहि।
खेलत जामहँ चित-मराल सुख चाहि॥

शारदीय शोभा

प्रभात

विलसत मधुर समीर प्रवास,
मानहुँ प्रभात को सीरो।
कलरव मधुर बिहंग-संग,
परि मुदित करत चित्त धीरो॥

औरहु मधुर दिवाकर,
करहिं पसारत जब निजु सुन्दर।

अलिकुल-मिषित सरोरुह–
गन को पीत करत सुमनोहर॥

जलकण-भूषित शस्यश्यामला
धरनी तरु फल पूरो।
सुमन सौरभित शिखर
बनाली, जल-लहरी पर सीरो॥

रजनी

औरहु सुन्दर अति लखात
आगमन सुसन्ध्या केरो।
तापर शांत विहंगम-संग
मनोहर रजनी हेरो॥

इन्दु-कला-परिवेष्ठित
तारा-निकर व्योम-मुक्ता-सम।
पै वा रजनी राज्य मांहि

नहिं वायु प्रभात मनोरम॥

नाहिं विहंगम कलरव,
नाहिं सुबाल दिवाकर किरनें।
नहिं अरबिन्द-विकास-सहित
नव ओसकणों की झरनें॥

ये मिलि करत अराम संग
ये सब सहचर हैं नाहीं।
चन्द्रकला शोभत अपने सों,
या शुचि रजनी माहीं॥

चन्द्र

निसि फैलि रही निसिनाथ-कला।
करणावलि कान्ति लसै अमला॥
बिलसै चहूँ ओर लखात भला।
निधि छीर मनो बिहरै कमला॥

अमला किरणावलि पूर ससी।
सुरनारि कपोल-कल हुलसी॥
बिलसै रतनाकर, अम्बर में–
रतनेस न जासु कोऊ बर में॥

कमला जल केलिहि हेतु रमें।
उडुराज किधौं नलिनीगन में॥
शुचि व्योम-सरोवर के जल में।
शशि कै मुख-कंज विकासन में॥

सुमहोत्पल है कि मयंक कला।
यह बारिधि कै शुचि ब्योम झला॥
यह चारु पराग मरन्द सनो।
बरसैकि जुन्हाइहिं चन्द मनो॥

रसाल-मंजरी

ऋतुनायक के कृपा दृष्टि ते यह अति लोनी।
धार्‍यो नवल "रसाल-मञ्जरी" सुधर सलोनी॥
कछुक मधुर मकरन्द अबहि यामे भीन्यो है।
अब लों कोउ मधुकर मरन्द नाहिं लीह्न्यो है॥

अहो विलम मलयानिल! नेक धीर धरि आवो।
कावेरी के रम्य तीर सौं बेगि न धावो॥
बरबस कुलकामिनि अञ्चल को नाहिं उडावो।
नव मुकुलित मञ्जरी अहै इत धीरे आवो॥

अरे नेक हटि बैठु डार पै ते सुन कोकिल।
सुनि तब पञ्चम राग जात मञ्जरी अहै हिल॥
तव नैनन की लाली यह तो सहि न सकि है।
नेक मधुर स्वर बोलु पास रहि कैसे बकि है॥

क्यो इतनी इतरात चले आवत हौ इतकौ।
नेकहु रखत विचार नहीं हौ अपने हितको॥
फुल्ल कुमुद बन माहि कीजिये तौ लौ केलि।
मलयानिल! जौ लौ विकसै मंजरी नवेली॥

पीत-पटी कटि माहिं रंग सांवरो निहारो।
सबहि भाँति नन्दनन्दन को हौ अनुकारो॥
करत-फिरत मधुपान कुसुम नित नित प्रवीन सो।
मधुकर! यह मञ्जरी अहै समुदित नवीन सों॥

बिनवी तुमसों नेक कृपा करिकै सुनि लीजे।
समुझि सिखावन भलो चित्त में ठांव सुदीजे॥
चंचलता तजि देहु अजू अपनी विचारि के।
मंजु मंजरी पाइ भार दीजे सम्हारि के॥

रसाल

समीरन मन्द मन्द चलि अनुकूल,
खैलत रसाल संग अति सुखमूल।
उदार चरित तुम तरुवर राज,
तुम्हरे सहाय बली होत ऋतुराज।

मञ्जरी मधुर गन्ध कानन पूरित,
मधु लोभी मुधुकर निकर गुञ्जित।
करत मुदित मन नवल सृजन,
तुमसों सुखद और कौन है सुजन।
ग्रीषम-निदाघ महँ शीतल सुछाया,
श्रमित पथिक कह देहू मन भाया।
हरित सघन रूप तव निरखत,
पथिक हृदय महँ सुख बरखत।
निहारि नवल धन पुलकित तन,
पल्लव, कोपल नव करि वितरन।
लहत अपार यश परम रसाल,
विहँग करत गान बैठि तब डाल।

वर्षा में नदी-कूल

सघन सुन्दर मेघ मनहर गगन सोहत हेरि।
धरा पुलकित अति अनन्दित रूप धरि चहुँ फेरि॥

लता पल्लवित राजै कुसुमित मधुकर सो गुञ्जित।
सुखमय शोभा लखि मन लोभा कानन नव रञ्जित॥
विज्जुलि मालिनि नव कादम्बिनि सुन्दर रूप सुधारि।
अमल अपारा नव जल धारा सुधा देत मनु ढारि॥
सुखद शीतल करत हीतल विमल अनिल सुधीर।
तरंगिनि-कूल अनुकूल आइ चलत मेटत पीर॥
तरंग तरल चलत चपल लेत हिलोर अपार।
कूलन सों मिल करै खिल खिलि तटिनि विस्तृत धार॥
वृत्ति वेगवति चलत ज्यों अति मनुज ता बस होत।
तरंगिनी-धारा चलत अपारा चारु कल-कल होत॥
कूल-तरूस्रेनी अति सुख देनी सुन्दर रूप विराजै।
वर्षा नटिनि के पट मनोहर, चारू किनारी राजै॥

उद्यान-लता

सुमनावलि सो लदि मोद-भरी,
पतियाँ सुलखात नवीन हरी॥

भरि अंक अहौ तुम भेटित को,

तरु के हिय दाह समेटति को॥

टक लाइ सबै दृग फूलन ते,

मकरन्द-भरे अंसुवा-कन ते॥

तुम देखति हौ केहि आस-भरी।

नहिं बोलति हौ तरु-पास खरी॥

यह नीरस है तरु जानत ना।

अति कोमल जानि अजान तना॥

जितनी भुज-पेच पसारति हौ,

तितनो यह रूख निहारति हौ॥

मलिया जहँ सींचि लगावत है।

तहँही तुमको मन भावत है॥

तरु पाइ समीपि सुपागति हौ।

तेहि के गर धाइ सुलागति हौ॥

प्रभात-कुसुम

धरे हिय माहिं असीम अनन्द।
सने शुचि सौरभ सों मकरन्द॥
समीरन में सुखमा भरि देत।
प्रभातिक फूल हियो हरि लेत॥
मनो रमनी निज पीय प्रवास।
फिरी लखि कै निज बैठि निवास॥
निरेखत अश्रु-भरे निज नैन।
अहो इमि राजत फूल सचैन॥
कह तुम कौन लख्यो शुभ-रूप।
गहौ इतनी प्रतिमा सुअनूप॥
पड़्यौ तुम पै कहु कौन प्रकाश।
इतो तुम माहिं लखात विकास॥
दिवाकर को कर संगम पाइ।
अहो तुम फूल फिरो इतराइ॥
अरे नहिं जानत फूल अजान।
यहै करिहैं तब मर्दन मान॥

विनय

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे है।
जो सूक्ष्म है पर तऊ बसुधा धरे है।
जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै।
ताकी महान महिमा कवि कौन गावै॥
जो भानु मध्य नित भासत ओज धारे।
शीतांशु जासु लहि कान्ति प्रभा पसारे॥
जाको सुगन्ध मलयानिल पाइ डोलै॥
ताके महान गुण-ग्रंथिहिं कौन खोलै॥
जाके कृपा कणहिं पाइ तरंगशाली।
गम्भीर गर्ज्जन करै निधि फेन माली॥
कैसो अनन्त वह देव दयालु सोहै।
जो बैठि के सुमन मन्दिर माँहि मोहै॥
जो नित्य सौरभ सने मणि-पद्मवासी।
जो हंस मानस सरोवर को विलासी॥
जो पुण्य छीर पय पावन को विचारै।

आनन्द के तरल वीचिन में विहारै॥
जो कल्पवृक्ष नित फूलत मोद भीने।
जो देत स्वच्छ मंगल है नवीने॥
संसार को सदय पालत जौन स्वामी।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामी॥

शारदीय महापूजन

विश्व में आलोक चारु लखात नव चहुँ ओर।
धीर शीतल पौन पूर पराग बहत अधोर॥
नील निर्मल नवल सोहत मञ्जु अकाश।
सुप्रसन्न महेश की लहिं महाशक्ति विकाश॥
शारदीय स्वरूप धरि आगमन जननी कीन्ह।
धान्य सों भरि के धरा को अमित सुख फल दीन्ह॥
देखिये यह विश्व-व्याप्त महा-मनोहर-मूर्त्ति।
चितरंजन करति आनन्द भरति है धीर स्फूर्त्ति॥
देवबालागन सबै पूजन करत सुख पाइ।

तारकागन कुसुम माला देत हैं पहिराइ॥
चन्द्र का कर्पूर-नीराजन विमल आलोक।
साजहीं सब शील संयुत धारि हृदय अशोक॥
स्वच्छ नीर सुस्वादु सों मानहुँ दया की धार।
मोद को है लहत सब ही गहत गुनहिं अपार॥
कोटि कंठन सो कढ़त्त कल कीर्ति नाद महेशि।
विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयति जय विश्वेशि॥

विभो

आलोकपूर्ण सब लोकन में बिहारी।
आनन्द कन्द जगवन्द्य विभो पुरारी॥
ब्रह्माण्ड मण्डल अखण्ड प्रताप जाके।
पूरे रहै निगम हूँ गुण गाइ थाके॥
ईशान नाम तव, नाथ अनाथ के हौ।
विख्यात है विरुद सद्गुण गाथ के हौ॥
जौ पै निहारि मम कर्महिं ध्यान दैहो।

तौ आशुतोष पद ख्यातहिं को नसैहौ॥

जानी न जाय केहि कारण रीझते हौ।

क्यों मूढ़ मानव जनों पर खीझते हौ॥

प्यारे मनुष्य उरमध्य निवास तेरो।

सन्मार्ग क्यों नहिं बतावहु जाहि हेरो॥

वीणा सुतार नहिं सुन्दर साजती है

आनन्द राग भरि क्यों नहिं बाजती है॥

गावो सुचित्त शुचि मन्दिर माहिं मेरे।

पावो असीम सुख मोद महा घनेरे॥

हौ पातकी तदपि हौं प्रभु, दास तेरो।

हौं दास नाथ तव है हिय आस तेरो॥

है आस चित्त महँ होय निवास तेरो।

होवै निवास महँ देव! प्रकास तेरो॥

विदाई

सोयो सोयो जागिके, करि आगम पहिचान।

काहि पुकार्‌यो वेग सों, अहा पपीहा प्रान॥

हौं नहिं जानौ कहां तै, आय परे तुम मीत।

अबहीं जो तुम जात हौ करत यहै अनरीत॥

प्रकृति सुमन बरसत रही, भली रही अधरात।

वा मिलिबे के समय मे, तेहि जनि करहु प्रभात॥

नव बसन्त सों अतिथि तुम, आवहु हिय हरखाय।

छोड़ि जात ग्रीषम तपन, जासों जिय जरि जाय॥

आवत बरसत नेहरस, अहो प्रेम-घन मीत।

करि लकिर दुरि जाहुगे धरि चपला की रीत॥

तुमते बढ़ि कोऊ नहीं, छली अहै जग माहिं।

आवतही अधिकार में, करत सबै चित चाहि॥

मनमानिक चित चाहिके, पहिले लीन्हों छीन।

जान समय नीलाम करि, किय कौड़ी को तीन॥

प्रिय जबहीं तुम जाहुगे, कछुक यहाँ ते दूरि।

आंखिन में भरि जायगी, तव चरनन की धूरि॥

तुम अपनी ही मूर्ति को, मलिन करहुगे फेरि।

इन पुतरिन पै आपने चरनन के रज गेरि॥

निठुर, हृदय तुम ले चले, इत आंसू के धार॥

तेरे पथ को सींचिहै, रखिहैं ताहि सँवार॥

क्रीड़ा कमल हृदय भयो, तेरे करको मीत।

सर सों बिलगानो अहै, सीच्यो दै रस प्रीत॥

जाहु, हमारे आह ये, रच्छक तुम्हारे पास।

जो लेऐहैं खींचि पुनि, तुमको हमरे पास॥

नीरद

अहो नवल नीरद नवनीर नीर विधि सों भरि।

बैठि समीरन वाहन पै गम्भीर गरज धरि॥

अम्बर-पथ-आरूढ़ कृषक-गन को हरखावत।

लोक दृष्टि ते सबहिं लखत जबही तुम आवत॥

भरे विमल जल झलकत नील नलिन अवली सों।

अम्बर छाया है कादम्बिनि की पटली सों॥

लखे नचत है शिखी मगन मदमत्त भये से।

अहो समीरन नेक रहन दै इन्हैं ठये से॥

हरित भूमि संकुचित शस्य सों सुरस रम्य बन।

तिन महँ विहरत इतउत इन्द्रबधूटी गन घन॥
मेघ मण्डली मण्डित उत अम्बर शुचि राजत।
तिनमें दामिनि छटा सलोनी सुघर विराजत॥
लखो अबहिं ये लगे परन पुनि सघन फुहारें।
परिमल सुरभित वारि बूंद पुनि बांधि कतारें॥
अब तो इन राख्यो न भेद अम्बर धरती में।
वारि सूत्र सो बाँधि दियो है एकतती में॥
प्रबल पवन लहि संग जलद के जल की धारा।
धारत अद्‌भुत रूप मनोहर अति विस्तारा॥
बेलिन को हहराइ छुड़ावन चहै तरुन सों।
व्यथित होइ लपटाइ रही जे भरी करुन सों॥

इत चातक चित लाइ लखत है तेरे मुख को।
मधुर बारि शीतल की आशा धारे सुख को॥
क्यों इतनों तरसावत हौ निज प्रेमीगन को।
स्वाती लों पछताइ देहुगे जल सुखमन को॥
यह तुम लीन्हें अक मांहि दामिनि सों।

गजरत पुलकि पसीजल धावत संग मानिनि सों॥
नेक न रखहु विचार पथिक अरु विरही जन को।
गरज न जानत, तेहिं रहते है धुन गरजन को॥
जान परत नहिं है गम्भीराशय तव मन को।
करत कहा हौ काह करोगे अपने मन को॥
पै हम हिय ते देत असीस अहैं तुम को नित।
समय समय पुनि आय सुधारस को बरसहु इत॥

शरद-पूर्णिमा

सु पूरब मांहि उग्यो छबि धाम।
कला बिखरावत है अभिराम॥
अकास विभासत पूरन चन्द।
समीरन डोलत मन्दहिं मन्द॥
न बोलत है कहुँ कोकिल कीर।
सबै चुप साधि रहे धरि धीर॥
कबौं हिलिजात अहे द्रुम पात।

समीर जबै तिन में सरसात॥

सुधा बरसावत है नभ चन्द।

मनो प्रकृति हिय धारि अनन्द॥

सु मोहनि मन्त्र सुधारि सराग।

बिखेरत है जग माहिं पराग॥

निसापति को लखि कै वधराज।

भग्यो तम अंग छिपावन काज॥

मनो द्रुम कन्दर में थल पाइ।

लियो विसराम अरामहिं जाइ॥

नदी धरनी गिरि कानन देश।

सु छाजत है सब ही नव भेश॥

धरे सुख सों सबही शुभरूप।

लखात मनोहर और अनूप॥

संध्या तारा

सन्ध्या के गगन महँ सुन्दर वरन।

को हौ झलकत तुम अमल रतन॥

तारा तुम तारा अति सुन्दर लखात।

तुम्हें देखिबे को नहिं आनँद समात॥

अनुकूल प्रतीची सों लखि दिनकर।

लहि मलिनाभ छाया धारि मनोहर॥

प्राची सन्ध्या सुकुमारी अति अनुपम।

गहत अपूर्व एक तारा आशा सम॥

निराश हृदय शून्य विस्तृत गगन।

आलोकित तारा आशा देखि ह्वै मगन॥

प्रभात मिलन आशा मनु हिय करि।

एक टक देखै प्राची तरुणि सुमिरि॥

नीलमनि माला मांहि सुन्दर लसत।

हीरक उज्ज्वल खण्ड विकाश सतत॥

कामिनी चिकुर भार अति घन नील।

तामें मणिसम तारा सोहत सलील॥

अनन्त तरंग तुंग माला विराजित।

फेनिल गम्भीर सिंधु निनाद बोधित॥

हेरि कुहू में नाविक जिमि भयभीत।

दीप पथ-दर्शकहि लखत सप्रीत॥
संसार तरंग लखि भीत तिमिजन।
निराश हृदय धारि संतापित मन॥
शान्ति निशा महिषी को राज चिन्ह रूप।
तुमहिं लखत सन्ध्या तारा शुभरूप॥

चन्द्रोदय

विशद विमल आलोक जासु अति ही मुद मंगलकारी।
चन्द नवल सुखधाम सोइ नभ में निजकर बिस्तारी॥
कुमुदिनि पूरन काम महा छबिधाम निशा को स्वामी।
मधुकर गन हुलसावन जन-मन भावन शुचि नभगामी॥
गहन विपिन सम गगन तासु वरवीर केशरी भारी।
केशर कर बिखराइ चन्द्र घूमत है बनि बनचारी॥
तम आखेट करत है डोलत सो लखि के भयभाजै।
मनु श्रम युद्ध करन ते उपज्यो सो तारागन राजै॥
देव गोप जन मह्यो सम छीर सिन्धु चिलाई।

नव नवनीत अंश उड़ि लाग्यो कै अम्बर छबि छाई॥

प्रकृति देवि निज लीला-कन्दुक किधौं किये कलकेली।

दियो उछाल गगन महँ राजत सो करिके रँगरेली॥

नील गगन वर कुञ्जर को यह सोहै घण्टा भारी।

ध्वनि ताकी नलिनी विकाश लहि मधुकर को गुंजारी॥

उज्ज्वल नव घन नील गगन महँ चन्द अमन्द प्रकासी।

राजै जिमि नंदनन्द गले में कौस्तुभ शुचि सुखमासी॥

श्याम सलोने गगन हृदय महँ चन्द महाछबि पावै।

श्याम सुँदर हिय मन ब्रजबाला प्रेम बिम्ब दरसावै॥

शून्य हृदय विरही को तामैं प्रिया बदन सुख देवै।

तैसहि शून्य विशाल गगन महँ चन्द हिलोरे लेवै॥

राजत सुन्दर चन्द अमन्द सुअंक महा छबिधारी।

चन्दवदनि के भाल विन्दु सुख सदन सुज्यों मनहारी॥

राका निशि ललना को सुन्दर कै कपोल मनभावै।

अंक तासु तिल रूप धारि अति माधुरता सरसावै॥

इंद्र-धनुष

लखहु नील सित असित पीत आरक्तिम शोभा।
मिलि एकहि सँग अद्भुत प्राची मे मन लोभा॥
छितिज छोर लों कोर दाबि धनुषाकृति सोहै।
सन्ध्या को आलिंगित वह सबको मन मोहै॥
काञ्चनीय निज करन डारि भूमण्डल ऊपर।
पश्चिम दिशि को जात लखहु यह भानु मनोहर॥
इत प्राची में धनुष लखाओ रँग अनुपम री।
भेंट देत जनु भानुहिं रतनन गगन जौहरी॥
नन्दन कानन विहरण शील अप्सरागन को।
सूखत पट बहु रंग हरत है जै मुनिमन को॥
किधौं गगन तारकस तानि बहु रंग तार को।
फेरत तिन पर रंग सुघर अनगिनित वार को॥
पावस घनहिं विदारन हेतु लियो जिमि दिनकर।
पश्चिम दिशि को गये गगन में धनुष राखिकर॥
किधौ सघन धन को कमान है अति सुन्दर यह।

जेहि छिपाइ पुनि साधि चलावत वारि बान यह॥
पावस ऋतु को विजय वैजयन्ती कै फहरत।
नवल चितेरो सब रंगन को लिखि जनु विहरत॥
किधौ मेघ-वाहन वाहन पै धरे धनुष यह॥

भारतेन्दु-प्रकाश

सज्ञन चकोर भये प्रफुल्लित मानि मन में मोद को।
सहृदय हृदय शुचि कुमुद विकसे विसद बन्धु विनोद को॥
छिटकी सुहिन्दी चन्द्रका आनन्द अतिहिं विधायिनी।
यह भारतेन्दु भयो उदय धरि कान्ति जो सुखदायिनी॥
जो सूर के शुचि किरन में भारत पयोनिधि नीर में।
यह नाव हिन्दी की चली थी सहज ही कछु तीर में॥
सो अन्धकारि निहारि ठिठकी भ्रमि भँवर के भीर ते।
यह भारतेन्दु प्रकाशि के पथ दियो ताहि सभीर ते॥
प्रच्छन्न मारग कंटकों ते रैन अँधियारी घनी।
कहुँ कबहुँ चपला जोति होति न चाँदनी ऐसी तनी॥

बटपारहूँ मग माहिं हिन्दी को पथिक जावै कहाँ।
हरिचन्द ने दिन रात में इकलो प्रकाश कियो तहाँ॥
अभिमान के जब गरल में सब कण्ठ लों पूरित रहे।
कवि वचन विमला सुधा के तब धार में सब ही बहे॥
नक्षत्र जुगनू की चमक ते चाहते शोभा भली।
यह भारतेन्दु कियो प्रकाश भई उदित चन्द्रावली॥
उरदू सुतीछन किरन में कुम्हिलाय चाहि कराहती।
नक्षत्र दरशन ते सुकछु आराम पायो है रती॥
हिन्दी रजनि-गन्धा सुलखि के भारतेन्दु अमन्द सों।
भइ औषधीश प्रसन्न करमें लालिता आनन्द सों॥

नीरव प्रेम

कमल-कोश भरे मकरन्द सों।
जिमि विराजत चारु अमन्द सों॥
निज सुगन्ध लिये वह आप ही।
रहत मोदभरे चुप चाप ही॥

धरत रूप मनोहर मोद सों।
हृदय हू तिमि कंज विनोद सों॥
वह सुधारत मंजुल नेम को।
लहत है जब नीरव प्रेम को॥
नवल दम्पति केलि विनोद में।
जब विमोहत है नवमोद में॥
प्रथम भाषण ज्यों अधरान में।
रहत है तउ गूंजत प्रान में॥
तिमि कहौ तुमहूँ चुपधीर सों।
विमल नेह कथान गँभीर सों॥
कुछ कहौ नहि पै कहिं जात हौ।
कछु लहौ नहिं पै लहिजात हौ॥
कवि नियोजित सुन्दर कल्पना।
जब धरै प्रतिमा छबि अल्पना॥
जलद माल तरंगिनि धार मे।
प्रविसि कूलन और पहार मे॥
तरल वीचि निनादन मे कढ़ै।
प्रकृति के मधुराक्षर को पढ़ै॥

करन व्यक्त चहै वहि भाव को।

पर न पावत कोउ उपाव को॥

तिमि करो तुम केलि अमन्द सों।

हृदय मे करिके छल छन्द सो॥

तदपि नाहिं कबौं दरसात हौ।

प्रकट होन चहौ छिपि जात हौ॥

गगन सों बिन अन्त गँभीर हौ।

जलधि सों तुम नीरद नीर हौं॥

बहुल नक्र-कुलाकुल भी रहौ।

तदपि लेहु उसास न धीर हौ॥

कबहुँ बह्नि विलोड़ित होय के।

धरत धातुहिं ज्यों गिरि गोय के॥

तिमिं रहौ मनही मन रोय के।

सब विषाद बिसारहु सोय के॥

निज लहे मृगनाभि सुगन्ध सों।

मृग फिरै बन में मद अन्ध सो॥

(कुसुम सौरभ जानि) निराश ह्वै॥

पुनि सुधारत भूल उदास ह्वै॥

तिमि लहे निज सौरभ मोद सों।

कछुक खोजत काहि विनोद सों॥

पुनि रहौ धरि के तुम मौन को।

तुरन त्यागत हो भ्रम गौन को॥

कल निनादिनि धीर तरगिनी।

जबहि गावति है रस रंगिनी॥

तुम मिलावत बीन तबै चहौ।

कोउ सुनै तब तो चुप ह्वै रहौ॥

सुमन देखि खिले खिल जात हौ।

अलिन में तुरतै मिल जात हौ॥

कलिन खोलत हौ रस रीति सों।

पर न गूंजत हौ नव नीति सों॥

विस्मृत प्रेम

अभिनवेन्दु कला दरसाति है।

सुखभरी विमला अधराति है॥

सब लखात वहै छबि पूर ह्वै।
तदपि क्यों हिय है चकचूर ह्वै॥
सबहिं विस्मृत सिन्धु तरंग मे।
प्रणय की लिपि धोइ उमंग मे॥
यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै।
तदपि क्यों नहिं राग अजौ तजै॥
हिय कहौ तुममें कहँ बानि है।
नहिं बिसारत जो निज आनि है॥
सुमेंहदी जिमि ऊपर है हरी।
अरुणिमा तउ भीतर है भरी॥
शुचि समीरन सौरभ पूर को।
परसि चेतत कौन सुदूर को॥
कमल कानन के मकरन्द को।
विमल आनन पूरन चन्द को॥
प्रकृति की सुखमा लखते मुदा।
सुख समूह जुरे रहते सदा॥
विमल तारन की लखि ज्योति यों।
तम विभास कहो अब होत क्यो?॥

कुसुम के लखि मञ्जु विकाश को।
भ्रमर गूंजत है लहि आश को॥
हृदय अस्फुट गूंजत क्यो कभी?
लखत फूल सुकौन कहौ अभी॥
घन तमावृत शून्य आकाश सों।
हिय भयो यह हाय निराश सों॥
तबहूँ रश्मि लखात विभा भरी।
ध्रुव समान सुकौन प्रभाधरी?

विसर्जन

तारकागन क्यों गगन में हँसत मन्दहि मन्द।
क्यों मलिन कर कान्ति ह्वै के धावते ही चन्द॥
रे निलज्ज न लाज तोहिं विचारि के यह आज।
जौन दर्शन में तिहारे मिल्यो है सुखसाज॥
सौ सबै ही मलय-मारुत-संग दीन उड़ाय।
फूल है अवशेष सौरभ-हीन कोमल काय॥

क्यों कमलिनि कुञ्ज पुञ्ज पराग सरवर माहिं।
घोरि के सुरभित करो जल कीन हित चित चाहि?
सो न वेगवती नदी अब हाय, हाय यह मान।
जो करेगी बात बीचिन के तुम्हारे कान॥
हाय, मृगतृष्णा भ्रमावत रह्यो जो चहुँ लेरि।
सो चमक हूँ बालुका-कण धारिहै नहिं हेरि॥
सबहिं विस्मृति कियो हे प्रिय! चन्द्रिका-निधि माहिं।
कोकिले। कहु कोन कहिके चेतिहौ अब नाहिं॥
यदपि है भूलन चहति चित चैति के गुन गाथ।
तदपि भूलहिं चैतिहै चित चेति पूरब साथ॥
वा मधुर तम मांहिं जौन प्रकाश ते तुम चन्द।
चितरञ्जन करत ताको कान नहिं अब मन्द॥
जाहु विस्मृति अस्त शैल निवास को चित चाहि।
शान्ति की नव अरुण क्रान्ति प्रकाशिहै हिय मांहि॥

•••

मकरन्द-बिन्दु

पात बिन कीन्हयों जिन्हैं पतझर रोष करि,
तिन सब द्रुमन सुमन पूर कीने तू॥
शारद कुमोदिनी के बिरह बिहाल अलि,
सहकार मञ्जरी सों मोद भरि दीने तू॥
नगर बनाली कोकिला की काकली सों भर्‌यो,
सुखद 'प्रसाद, रस, रंग केलि भीने तू॥
छोह छरि लीने मन औरै करि दीने,
रे बसन्त रस भीने, कौन मन्त्र पढि दीने तू॥

कौन भ्रम भूलि कै भ्रमत चलिजात कितै,
बीतै जनि देहु रजनी को, चित्त धारिये॥
कबते तिहारी आस लाय एक टक यह,
रूप सुधा प्यासी तासु प्यास निरवारिये॥
राखै परवाह ना सराह की तिहारी सौहँ।
लखत 'प्रसाद' कौन प्रेम अनुसारिये॥
चित्त चैन चाहत है, चाह में भरी है चेति,

चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिये॥

राते नैन कीन्हे तू कहाँ ते मदमाते पिक,
सीखी यह बातें नेक धीर धरिके कहो॥
सुनत न और की गुनत कछु और ही,
'प्रसाद' कौन बात जो अधीरता इती गहो॥
किंसुक बिसेखि कचनार को निरेखि तेहि,
डार बैठि ऐठि कौन रंगराते ह्वै रहो॥
हेरौ मलयानिल, बसन्तहि को टेरौ हौ,
लगाये धुन कौन की, कहौ तो कौन को चहौ॥

कौन सुख पाय टक लाय अहो चातक यों,
घन ओर देखत सबै सुधि बिसरि कै॥
दीन देखि दया जोगि जानि के कबी तो वह,
एक दया दीठि सम बूँद दैहे डारिकै॥
सोऊ ना पिघलिहै पखान बनि सीपी हिये,
मोती जानि राखिहैं 'प्रसाद' निरधारि कै॥
फारिकै निकरिहै तऊ वा बेधो जाइहै, ना

फल कछु पाई है यों प्रीति को पसारि कै॥

सींचे जौन प्रेम सो प्रमोद ताके उर होत,
सौरभ उदोत अति सुन्दर हौ नेम के॥
परम पुनीत परिमल के निकेत जासों,
सीतल है हीतल 'प्रसाद' अति छेम के॥
सिरिस सुमन सुकुमार तुम जैसे वैसे,
भ्रमर विनोद में धरैया नव नेम के॥
कल कुसुमाकर के केवल रतन तुम,
कानन में पुन्य पूर पोखे पुञ्ज प्रेम के॥

सरिता सुकूलन में तपसी बने से तरु,
सरल सुभाव खड़े हृदय उदार ते॥
छाया देत काहू को पथिक जौन तापित है,
तीछन दिवाकर ते दुखित दवार ते॥
नवल प्रमोद सों करत हिय मोद मय,
सुन्दर सुस्वादु फल देत निज डार ते॥
स्वारथ में मूढ़ नर थोड़े निज लाभ हेतु,

तऊ ताहि काटत है कुमति कुठार ते॥

फेरि रुख जात हौ कहाँ को प्रिय नेक इतै,
चितै चित चैन देहु लेहुए सुधि आओ तो॥
अमल कमल हिय प्रेम बिन्दु सिञ्चित है,
आसन सुबैठि के 'प्रसाद' सरसाओ तो॥
चरन कलम इन नैन जल धारन ते,
सींचिहौ तिहारे अब हिय हरखाओ तो॥
नाहिं तरसाओ नेक दया दरसाओ आओ,
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सों लगाओ तो॥

पुलकि उठे है रोम-रोम खड़े स्वागत को,
जागत है नैन बरुनी पै छबि छाओ तो॥
मूरति तिहारी उर अन्तर खड़ी है तुम्हें,
देखिबे के हेतु ताहि मुख दरसाओ तो॥
भरिकै उछाह सों उठे है भुज भेटिबे को
मेटिबे को ताप, क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो॥
हिय हरखाओ प्रेम रस बरसाओ आओ

बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सों लगागो तो॥

अलक लुलित अलि अवली समान बनि,
हिय के रसाल सुधारस बरसाओ तो॥
प्रेम परिमल-परिपूरित दिगन्त करि,
किसलय अंगुली सों निकट बुलाओ तो॥
खिलैगो हृदय-बन नव राग रञ्जित ह्वै,
परसि 'प्रसाद' यो बसन्त बनि आओ तो॥
कोकिला कलित कण्ठ प्रीति राग गाओ आओ,
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सों लगाओ तो॥

रञ्जित कियो है कुसुमाकर ने कानन को,
नैन अनियारे अरुनारे जनि कीजिये॥
कीजिये जो रञ्जित तो जीवन अधार! मेरे,
हिय अनुराग भरि नवरंग भीजिये॥
प्रानन के प्यासे क्यो भये हो इतो रोष करि,
भरि-भरि प्याले प्यार प्रेम रस पीजिये॥
दीजिये 'प्रसाद' सुख सौरभ को लीजिए जू,

नेकहू तो चित्त में दया को ठौर दीजिये॥

आवत हौ अन्तर में अन्तर रखत तऊ,
तपत निरन्तर हौं अन्तर न जानिकै॥
नैनस बसत काहे कसत कसौटी, यहाँ
सबै खरे सुबरन परैं अनुमानि कै॥
बैनन कहत हिये चैन न परत, तुम
सैनन 'प्रसाद' क्यों कहत अनजानि कै॥
पञ्च नहिं जानौं, हौं विपञ्ची बूझ देखौ, किन
राग है बजत गुनी लीजो पहिचानि कै॥

देखिकै अमल मुखचन्द्र हिय भीतर हू,
अतिहि अमन्द कहो होत उजियारो क्यों?
नूपुर मधुर धुनि सुनत बिहाल होत,
चंचल कुरंग मन चौकड़ी बिसारो क्यों?
कौन सों भरो है जादू नैनन की सैनन में,
चैन छन नाहिं जात गात ना संभारो क्यों?
देखत ही ताहि पहिचानो सो परत, कहो

बरसब ही लागत 'प्रसाद' वह प्यारो क्यों?

मानस की तरल तरंग उठै रंग भरी,
पाइके बयार सुख सार स्वच्छ जल पर॥
रूप के प्रभाव भरि आनँद अपार खिल्यो,
हृदय स्वभाव-मकरन्द लै अमल पर॥
सींचत युगल दृग-कुम्भ सुधा-धारन ते,
पूजत 'प्रसाद' प्रेम पूरन अचल पर॥
को हौ तुम आइकै हृदय में निवास कियो,
आसन जमायो जनु कमला कमल पर॥

फूलैं भलै फूल कोटिन उपाय निज,
बदन दिखाय दरसावैं अभिमान को॥
मलयज भ्रमर फिरत चहुँ ओर तापै,
माली नित फेरा करै करि गुण गान को॥
एरी कली भली हौ छिपाये रहो अंग,
मकरन्द अभिलाष को करत पहिचान को॥
ये तो सब आप ही फिरेंगे तेरे आस गुन,

आप ही ते ग्रहण करत सनमान को॥

करुणानिधान सुन्यो तेरी यह बान,
नित दीन दुखियान पै तिहारी कृपा कोर है॥
तऊ ते पुकारत है आरत भये से क्यों,
सँवारत न काज निज देखि दीन ओर है॥
साँचे ही भये हो नाथ पाहन के, जौन तुम्हें
दीनन की आह न हिलावै करि सोर है॥
करुणा-समुद्र जो पै तरल तरंग करि,
तुमहीं डूबाओ तो बताओ कौन जोर है॥

पाइ आँच दुख की उठत जब आह,
सब धीरज नसाय तब कैसे थिर होइये॥
पावत न और ठौर तुम्हरी सरन छोड़,
रहे मुख मोड तुम, काके सौहँ रोइये॥
छाय रही आह तिहुँ लोकन मै मेरे जान,
तेरी करुना ते ताहि कैसे करि गोइये॥
हिलि उठै हिय जहाँ आसन तुम्हारो,

तऊ तुम न हिलत ऐसे अचल न होइये॥

आसुन अन्हात तिन्हैं आसुतोष देत,
जो पुकारत निरीह, तबै बेग उठि धावते॥
आरत अधर्मी अति कूर जो पतित होत
दुखके समुद्र, तिन्हैं धायके बचावते॥
अतिही मलीन जिन्हैं आशा कछु नाहिं,
करि करुना कटाक्ष हँसि हेरो तिन्है चावते॥
दीन-दुख देखिबे की परी तुम्हें बान,
दीनबन्धु तुन्हें नाहक खुसामदी बतावते॥

भूलि-भूलि जात पदकमल तिहारो कहा,
ऐसी नीच मूढ मति कीन्हीं है हमारी क्यो?
धायके धसत काम क्रोध सिन्धु संगम में,
मनको हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों?
झूठे जग लोगन में दौरि के लगत नेह,
साँचे सच्चिदानँद में प्रेम ना सुधारी क्यों?
विकल विलोकत, न हिय पीर मोचत हो,

एहो दीन-बन्धु दीनबन्धुता बिसारी क्यों?

मिलि रहे माते मधुकर मनमोद भरे,
खिलि रहे सुमन सुगन्ध सरसाये, देत॥
सीरी कुछ भीनी-सी समीर हू चलत जौन,
मिलित पराग ह्वै गुलाल बगराये देत॥
बरखा-सी कीन्ही है बसन्त मकरन्द-बिन्दु,
कमल-कली की पिचुकारियाँ चलाये देत॥
बैठिके रसालन की डालन पै कूकि-कूकि,
तैसी पिकपाँति हू धमार धुन गाये देत॥

भले अनुराग में रंगे हो प्रियप्रान आज,
ऐसो अनुरुप दरसन मिल्यो भाग सों॥
प्रेम-कुञ्ज भीतर चलो तो, हृदयासन पै
बैठी नेक रूखे ह्वै भरी नहिं विराग सों॥
गालियाँ सुनोगे जोपै आज याते संकित ह्वै,
तारो न मनोमुकुल माल ताग सों॥
अंकभरि भेंटो तो 'प्रसाद' परिपूरित हो

लीलाहि ते मन मरुभूमि खिले बाग सों॥

आवै इठलात जलजात-पात को सो बिन्दु,
कैधों खुली सीपी मांहि मुकता दरस है॥
कढ़ी कंज-कोश ते कलोलिनी के सीकर सों,
प्रात-हिमकन-सों, न सीतल परस है॥
देखे दुख दूनो उमगत अति आनंद सो,
जान्यो नहिं जाय यहि कौन-सो हरस है!
तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू! तै पियूष ते सरल है॥

प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाइ सुख,
जानियो न भूलि याहि छलना अनग की॥
खैचि मनमोहन ते काट-पेंच कौन करै,
चली अब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की॥
मूँदै हम खोलै किन छाइ छबि एक तैसी,
प्यासी भी आँखें रूप सुधा के तरंग की॥
उनतै रह्यो न भेद बिछुरे मिले में,

भई, बिछुरनि मीन की औ' मिलनि पतंग की॥

बदन बिलोकै ठाढ्यो विधु बंध्यो व्योम-बीच,

छवि-किरनों की जनु फैली जाल-डोरी है॥

अनिलहु अन्तरिच्छ ह्वै के खोलै घूँघट को,

तेरे रूप सों तो सबही की बरजोरी है॥

कलियाँ पराग लौ गुलाल बगराये देत,

ढारत प्रकृति मकरंद बैठि भोरी है॥

प्रेम-रंग बोरि हेरिलै री मेरी लली!

जिय ना जराव जरी जाय रही होरी है॥

घोर उठे घन रात अँधेरी,

धरे हठ मारुत है पुरवैया

छाड़िके कूलहि मातु को अंक,

सबै भवसिन्धु में होत खेवैया॥

पाय 'प्रसाद' तिहारो सबै सुखी,

होत तुही पतवार धरैया॥

नाथ तिहारे सहारे चलावत,

लक्ष्य तुही यह जीवन-नैया॥

जो तुमसे कियो नेह अहो,
सब लोक कहावति जानि बिसारी॥
धायो रुखाई यही परिणाम,
लह्यो सब सीखके प्रीति तुम्हारी॥
'लोग गवाँइ के पावत है'
यह साँची कहावत आगे उतारी॥
आपनी देखि बड़ाई अहौ,
अब माफ करो यह चूक हमारी॥

भई ढीठ फिरे चल चञ्चल-सी,
यह रीति नहीं इन की है नई॥
नई देखि मनोहरता कतहूँ,
थिरता इनमें नहिं पाई गई॥
गई लाज सरूप-सुधा चखि के,
इनकी न तबौं कुटिलाई गई॥
गई खोजत ठौर-ही-ठौर तुम्हैं,

अखियाँ अब तो हरजाई भई॥

अहो नित प्रेम करत दिन गयो।
देखत रह्यो जाहि मन भायो भयो वहै नित् नयो॥
कमल बकुल मन्दार जहाँ ही कछुक कुसुम रस भयो।
सौरभ मिल्यो जहाँ मनमोहन मनमधुकर रमि गयो॥
पाहनहूँ में देखि चिकनई मन यह बिछलि गयो।
कलनादिनी देखि सरिता तेहि में हू बहि गयो॥
भटक्यो नहीं भँवर के भयते दूनो साहस भयो।
कुसुमित साखा देखि भुलान्यो तापर बैठि गयो॥
कंटक की कठिनाई हूँ को मूरख विस्मृत कियो।
चढ्यो कढ्यो सबभाँति छिद्यो पुनि बिध्यो नहीं हटिगयो॥
तो यो आनँद पायो याही मै सब सुख को ढयो।
सहने परे जऊ ये दुःख बहु तऊ न साहस छयो॥

देखि निठुरता प्रेमास्पद की पीछे पगि जनि दया।
प्रेम 'प्रसाद' समुझि यहि रे मन हिये लगाय लयो॥

दियो भल उत्तर ह्वै के मौन।

कह्यो सबै मन दूत समुझि के जो तुम सोच्यो तौन॥

रह्यो नहीं बोलन हूँ लायक तासो बोल्यो जौन।

ताको लाज निबाह्यो चुप ह्वै कहो आचरज कौन?

ढीठ ह्वै करत सबैही पाप।

जानत सब करुना-निधान हो, हरिहौ सब संताप॥

होय दुखी इन पाप करन से तुमको जाय पुकरिहैं।

करुनानिधि फल देई सकत नहिं, उनहूँ को दुख हरिहैं॥

कमलहिं चोट देत हैं मधुकर, तिन पर करुना करिकै।

मनमोहन मकरंद मधुर ते तिन्हें देत हैं भरिकै॥

हे पावन! पतितन के सरबस! दीन जनन के मीत।

सब बिसारि दुर्गुन निज जन को, देहु चरन में प्रीत॥

पुन्य औ पाप न जान्यो जात।

सब तेरे ही काज करत है और न उन्हे सिरात॥

सखा होय सुभ सीख देत कोउ काहू को मन लाय।

सो तुमरोही काज सँवारत ताकों बड़ो बनाय॥

भारत सिंह शिकारी बन-बन मृगया को आमोद।
सरल जीव की रक्षा तिनसे होत तिहारे गोद॥
स्वारथ औ परमारथ सबही तेरो स्वारथ मीत।
तब इतनी टेढी भृकुटी क्यों? देहु चरण में प्रीत॥

छिपी के झगड़ा क्यों फैलायो?
मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो॥
अम्बर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहिं भायो।
कढ़ि पाहनहूँ ते पुकार बस सबसों भेद छिपायो॥
कूवाँ ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावै–
ऐसो को है याते सबही निज निज मति गुन गावै॥
लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत।
अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण में प्रीत॥

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं?
जो नहि करत, सुनत नहि जो कुछ जो जन पीर न हरिहै॥
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखावौ मुनि को।
हमरी मति तो, इन झगड़न को समुझि सकत नहिं तनिको॥

परम स्वारथी तिनको अपनो आनंद रूप दिखायो।
उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनौ सुनाओ॥
करत सुनत फल देत लेत सब तुमहीं, यहै प्रतीत।
बढ़ै हमारे हृदय सदाही, देहु चरण में प्रीत॥

और जब कहिहै तब का रहिहै।
हमरे लिए प्रान प्रिय तुम सों, यह हम कैसे सहिहै॥
तव दरबारहू लगत सिपारत यह अचरज प्रिय कैसो?
कान फुकावै कौन, हम कि तुम! रुचे करो तुम तैसो॥
ये मन्त्री हमरो तुम्हरो कछु भेद न जानन पावें।
लहि 'प्रसाद' तुम्हरो जग में, प्रिय जूठ खान को जावें॥

नाथ नहिं फीकी परै गुहार।
विश्व विदित यह विरुद तुम्हारो, मग में सुनत पुकार॥
हौं जबही लों कहों सुनो इतने ही में सब बात।
ओर दूसरो कहन न पावै नहिं रहिहौ पछितात॥
नाव हिलै नहिं तुम्हरी बोझी दृढ धारो पतवार।
बहै बयार जगत मे केती, खेइ लगाओ पार॥

शक्तिमती-करुणा करि राखो लहे न कतहूँ हार।

तेरो यह 'प्रसाद' करुनानिधि, तुमहीं राखनहार॥

मधुप ज्यों कंज देखि मँडरावे।

वैसहि क्यों न होत मन-मधुकर चरण कमल चितलावै॥

सुख मकरंद स्त्रवत जहँ नितही जहँ नहिं दुःख तुषारा।

आनँद-दिनकर-किरण-कलाते सदा जहाँ उजियारा॥

सो विहारथल तजि मदमातो अनत कहूँ नहि जावे।

तव 'प्रसाद' मकरन्द छाकि के भूलि सबै दुख जावे॥

मेरे प्रेम को प्रतिकार।

कीजिए जनि अहो प्रियतम! हृदय! प्राणाधार॥

हौ करौ सर्वस्व तजि तुव पद कमल में प्रीत।

तुम रहो अनखे अनोखे! हे निठुर मम मीत॥

भुज उठाइ तुम्हें भरन हित अंक मे जब प्रान।

हम चलै, तुम हटो पीछे, करत मुरि मुसुक्यान॥

हम करै अनुसरण तुम्हरो, तुम चलो मुख फेरि।

पद सरोज 'प्रसाद' रज तुम देहु सिर पर गेरि॥

प्रिय स्मृति कञ्ज में लवलीन।

रहहु मन मधुकर हमारे, जिमि विमल जल मीन॥

गहहु चन्द्र चकोर गति, अपरूप छवि सर न्हाय।

मिलि लखो घनश्याम दामिनि सों हिये हरषाय॥

पियें हिय भरि रूप रस ये नैन प्यासे आज।

श्रुति सुधा संगीतमय हो शान्ति के सुखराज॥

नित्य मंगलमई मूरति हिय पटल में देखि।

तृप्त होय 'प्रसाद' लहि यह प्राण प्रेम बिसेखि॥

अरे मन अबहूँ तो तू मान।

देखि लिए जग के नेही बहु औरन करु अनुमान।

इनकी रीति यही सब दिनते इनको कहा प्रमान॥

जेहि को चित्त दै चाह्यो चख भरि जेहि देखन की बान।

सो तो आधेहु दृग तोको देखन में ,सकुचान॥

अब जनु भूलु मधुर बातन में ये सब जग के स्वान।

प्रभु 'प्रसाद' लखु उर अन्तर में बाही को करु ध्यान॥

आज तो नीके नेकु निहारो।

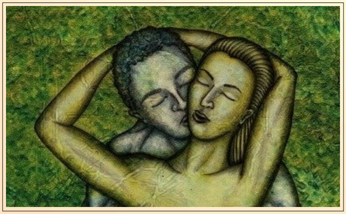
पावस के धन तिमिर भार मे बीति बात बिसारो॥
चमकि गयो जो चपला सम यह प्रियतम बिरह तिहारो।
ताहि बहाओ रस बरषा में, हे धन आनँद वारो॥
चातक लो नित रटत रहत हम, हे सुन्दर पी प्यारो।
हरित करो यह मरुसम मो मन, देहु 'प्रसाद' पियारो॥

यह तो सब समुझ्यो पहले ही।
नीच निकाम, निलज, बनि जगमे होय तुम्हारो नेही॥
ताहू पर करि प्रेम तिहारो तुमहूँ को नहिं पावै।
ठौर ठौर दिखलावो, प्रियतम! मन लालच में धावै॥
छुटिहै इन उपचारन नाही प्रेम तुम्हारो मेरो।
श्याम पुतरिया देखि तुम्हारी और ओर नहिं हेरो॥
मधुरी हँसी, भौह टेढ़ी सब तब पुलकित ह्वै सहिहौं।
तुव चरनन मे लोटि, जगत के सीस पायँ दै रहिहौं॥

●●●

जयशंकर प्रसाद

प्रेम पथिक



[हिन्दीकोश]

प्रेम पथिक

सन्ध्या की, हेमाभ तपन की, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित करती हैं देखो नई चमेली को मुद से
कौन जानता है कि उसे तम में जाकर छिपता होगा,
या फिर कोमल मधुकर उसको मीठी नींद सुला देगा?

विमल मधुर मलयानिल के मिलने से खिल जाती है, जो
हरे पत्र, कोमल किसलय में अपना अङ्ग छिपाती है,
हरी डाल के सुखद हिंडोले में परिवर्धित होकर जो
अकपट विकसित भाव दिखाती है कैसी आनन्दमयी,
सरल विलोकन में जिसके आन्तरिक प्रेम है खिला हुआ
निर्निमेष हो हँसती जैसे तन-मन की सुधि भूली-सी,
उस नैसर्गिक सुरभिपूर्ण, उस रूपवती का क्या कहना,
जिसे कि प्रकृति मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है।
अहा, चमेली वही, बताओ कैसे सुख को पावेगी

तोड़ी जाकर निज डालों से, चिरसंगिनी कली-कुल से—
बिछुड़ायी जाकर, क्या फूल चँगेर सजावेगी? किसका?

जिसे न कुछ परवाह कली की, उसे तोड़कर रखता है
सेज समीप, रात को खिल-खिलकर सुख देती जो उसको
जिसका शयनागार सजा है, पुष्पपात्र है बहुत धरे
किसी एक में यही चमेली पड़ी म्लान हो जावेगी।
जी भर-भर कर सौरभ देकर आकर्षित न किया मन को
बिना स्पर्श के ही कुम्हिलाकर अपना समय बितावेगी।
अथवा कौन बतावे कैसा होगा उसका फल इसको,
किसी स्वार्थी माली से तोड़ी जाकर, गूँथी जा—
अन्य कुसुम-कलियों के साथ बनावेगी सुंदर माला
टके-मोल बिक जावेगी। जब सुंदर सौरभ ले लेगा,
दूर करेगा उसको, अपने गले कभी न लगावेगा
कौन जानता है या, यों ही पड़ी रहेगी डाली में
तारा-सा टक लगा रखेगी फूलेगी मन-ही-मन में
शून्य मार्ग में विचरणकारी पवन कभी हाँ छू लेगा।
अभिलाषा-मकरन्द सूख जावेगा, मुरझा जावेगी,

जिस धरणी से उठी हुई थी उस पर ही गिर जावेगी।

लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है
कौन उठा सकता है धुँधला-पट भविष्य का जीवन में
जिस मंदिर मे देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर
कौन बता सकता है उसमे तेल न जलने पावेगा
यह भी नहीं जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना-मंदिर-सा कब, चूर-चूर हो जावेगा,
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या-क्या बन जावेगा
भला जानते हो क्या कानन-कोने में जो बना हुआ
द्रुमदल आच्छादित कुटीर है, जिस पर लतिका चढ़ी हुई
ईश दया-सी छाई है, उसमें सामग्री एक नहीं
सब अभाव के रहते भी क्यों कोई वस्तु नहीं घटती?
हाँ, अभाव का अभाव होकर आवश्यकता पूरी है।

सुंदर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी में सरिता के
शांत तपस्वी-सी बल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारों ओर

जैसे किसी दुर्ग की खाई में श्यामल जल भरा हुआ
स्वच्छ मार्ग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण
घिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी
कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी
मृगछाला, कौशेय, कमण्डल, वल्कल से ही सजी रही
शांत निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे
नवल मालती-कुंज बना दालान, अनोखे सज-धज का।

ढलते हुये तृतीय पहर के तपन मधुर हो जाते है
उसी तरह इस मानव की अब शांत अवस्था कैसी है?
'पच्चीसी' के प्रबल भाव अब नहीं, न वृत्ति अदम्य रही
स्निग्ध भाव मुखमण्डल पर क्या स्वच्छ सुधा बरसाता है!
है बैठा मालती-कुंज में, और बड़ा आश्चर्य अहो
एक तापसी भी है बैठी पददलिता छाया-सी।
कँपते हुए, रुके गदगद स्वर से बोली तापसी– "सुनो,
भद्र पथिक! अब रात हो गयी. पथ चलने का समय नहीं
पर्ण कुटीर पवित्र तुम्हारा ही है, कुछ विश्राम करो
फल, जल, आसन सभी मिलेगा जो प्रस्तुत है मेरे पास

और तुम्हारी शांति न कोई भङ्ग करेगा तृण भर भी।
आत्मकथा हो मुझे सुनाने योग्य तो न वञ्चित करना
सौम्य अतिथि को पाकर फिर यह निशा सहज में बीतेगी
हाँ प्रभात होते ही अपने पथ पर तुम लग जाओगे
और दुःखिनी यहीं अकेली ज्यों-की त्यों रह जावेगी।"
कहा पथिक ने– "धन्यवाद है, ठीक कहा, अब समय नहीं
और लालसा लगी हृदय में गाथा सुनूँ, सुनाऊँ मैं
इससे अच्छा यही कि रजनी आज बिताऊँ कहीं यहीं।"

प्रायः लोग कहा करते है– "रात भयानक होती है–
घोर कर्म्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते है।"
किन्तु नहीं; दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है
जहाँ सरल के लिए अनेक अनिष्ट विचारे जाते है।
जिसकी संकीर्णता निरख, अन्धकार भी घबराता हो
उस खल-हृदय से कहीं अच्छी होती है श्यामा रजनी
जहाँ दुखी, प्रेमी, निराश, सब मीठी निद्रा में सोते
आशा-स्वप्न कभी भी तो तारा-सा झिलमिल करता है
चिर विछोहियों को क्रीड़ा-वश-होकर निद्रा-बीच कभी

कुहक-कामिनी मिला दिया करती है। इतना क्या कम है?
अस्ताचल जाते ही दिनकर के, सब प्रकट हुए, कैसे
अन्तरिक्ष में गुप्त रहस्य समान अहा धीरे-धीरे
स्पष्ट, चण्ड-शासन में जैसे असल अवस्था खुले नहीं।
प्रियदर्शन होकर जब मन्त्री यथाविहित सब सुनता है
हृदय खोलकर दिखलाने को कौन प्रजा प्रस्तुत न हुई?
जैसे-जैसे तारागण ये गगन-बीच प्रकटित होते
वैसे नई चमेली भी अपनी डाली में खिलती थी।
परिमलवाही शांत समीरण विमल मधुर मकरन्द लिये
चला आ रहा नये पथिक की तरह कुटी की ओर अहो
होकर अब निश्चिन्त पथिक तो बैठ गया समतल थल पर
किन्तु पवन वह लगा उलझने, बार-बार बल खाता था
जहाँ-जहाँ कलियों को पाता उन्हें हिलाता जाता था।

ताराओं की माला कवरी में लटकाये, चन्द्रमुखी,
रजनी अपनी शांति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।
तेजमयी तापसी कुटी से निकल, कुञ्ज में आ बैठी,
चन्द्रशालिनी रजनी थी चुपचाप देखती दोनों को।

कहा तापसी ने– “कहिए अब भद्र पथिक, अपनी गाथा–
क्यों यह वेश, छोड़कर घर को क्यों वन-वन फिरते हो?”

“शुभे! अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती है
तो भी वज्र-हृदय कर अपना, उसको तुम्हें सुनाता हूँ।
किन्तु समझना इसे कहानी इस पर कुछ न ध्यान देना
कष्ट न देना अपने मन को” –कहा पथिक ने गद्गद हो–
“क्योंकि हृदय कोमल होता है वनिताओं का, बातों में;
करुणा-प्लावित होकर दृग झरने को भरने लगता है!

ऊषा की पहली किरणों के साथ स्मरण करता हूँ मैं
उस छोटे से स्वच्छ नगर जहाँ जन्म-भू थी मेरी,
जिसकी उसपर नवल प्रभा पड़ती प्रभात में अति अभिराम
जिससे लगे सुमन कानन में कोमल किसलय प्रस्तुत थे
उन पथिकों को पंखा झलते, थके हुए जो आते थे।
सच्चरित्र, सन्तुष्ट गृहस्थों की थी जन्मभूमि नगरी
दया-स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।
गोचरभूमि रही विस्तृत नगरोपकण्ठ में हरी-भरी

दुग्धशालिनी गायों को जब झुण्ड दिखाई पड़ता था
तब निरोगिता को प्रत्यक्ष विचरते लोग निरखते थे।
कृषक समूह जहाँ सन्ध्या को ग्राम्य गीत सुख से गाते।
वे सीमा के खेत शस्य से श्यामल हो लहराते थे।

नगर-बीच में पण्यवीथिका भरी दिखाई देती थी
क्रय-विक्रय की धूमधाम से जनरव से उद्घोषित थी
जन-स्रोत-सा राजमार्ग चलता ही रहता था दिन-रात
सब प्रफुल्ल थे, अपने-अपने कार्य्य परिश्रम से करते,
हाँ मित्रों के मिल जाने पर हँसकर मन से मिलते भी
खेल, तमाशे, पर्व और त्योहार सभी ये होते थे
और कहाँ तक कहूँ, सदा आनन्द-स्रोत उमड़ा रहता
इसीलिए– 'आनन्द नगर' था नाम पड़ा उस नगरी का।

'तटिनी के तट पर सुन्दर था एक मनोहर घर अपना
स्वर्ग-धरा का, सुन्दर; जिसमें साथ पिता के रहता मैं।
पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते, सज्ज्न थे
प्रेम पुतली कन्या से खेला करते बूढ़े होकर।

मेरे पिता रह उनके परिचित मित्रों में कौन कहे?
रहा बड़ा सद्भाव सदा दोनों में अच्छी बनती थी।
हम दोनौं भी नित्य परस्पर मिलकर खेला करते थे
नदी-कूल में, कुसुम-कुंज में, ऊषा और सन्ध्या में भी
खिली चाँदनी में खिलती थे एक डाल में युगल कुसुम।
चकई-चकवे से हम दोनों, रात व्यतीत अलग करते
कीड़ा कर जब थक जाते तब अपने घर में ले जाते
दोनों ही के जनक। सदा यों ही निज मन बहलाते थे।'
कुछ अज्ञात कारणों से तब पुलकित हो तापसी उठी,
कहा– "पथिक क्या नाम तुम्हारा, यह न कहा तुमने अब तक।"

कहा पथिक ने– "शुभे! कथा सुन लो फिर नाम बताऊँगा।
हाँ, फिर हम दोनों ऐसे ही बहुत दिनों तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ में ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के तब पिता देखकर उन्हें, बहुत ही दुखी हुए।
कहा– 'मित्रवर' कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है, उसे करूँ।'
कहा पिता ने– 'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें

तुम्हें सौंपता हूँ अब इसको, इसे पुत्र अपना जानो।'
यों कह मेरा कर उनके हाथों में देकर साँस लिया
कहा उन्होंने - 'यह तो यों ही है मेरा, हाँ और कहो
यदि कोई हो कार्य्य और भी उसे करूँगा सच जानो।'
'और नहीं कुछ, शांत चित्त से स्मरण करूँगा अब प्रभु का'
कहा पिता ने प्रभुदित होकर। मित्र पधारे निज गृह को'।

कहाँ मित्रता कैसी बातें? अरे कल्पना है सब ये
सच्चा मित्र कहाँ मिलता है! – खी हृदय की छाया-सा!
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नहीं?
मुँह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपड़ी ही सुन लो।
जिसे समझते हो तुम अपना मित्र भूलकर, वही अभी
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूर्ख बनाता है।
क्षण भर में ही बने मित्रवर अन्तरंग या सखा समान
'प्रिय' हो प्रियवर' हो सब तुम हो काम पड़े पर 'परिचित' हो
कहीं तुम्हारा 'स्वार्थ' लगा है, कहीं 'लोभ' है मित्र बना,
कहीं 'प्रतिष्ठा' कहीं 'रूप' है– मित्र रूप में रँगा हुआ।

हृदय खोलकर मिलनेवाले बड़े भाग्य से मिलते है
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कहीं
निराधार भवसिन्धु बीच वह कर्णधार को पाता है
प्रेम नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।

"प्रणयांकुर की तरह बालिका, बालक दोनों बढ़ते थे
क्योंकि पिता के मरने पर हम पिता-मित्र के घर रहते
अभिभावक अब वही हमारे रखते स्नेह सहित मुझको।
नित्य नई क्रीड़ा होती थी। सुख से था संसार बना।
खेल-खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द
विमल हृदय के छायापथ में अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को वसंत की सुखमय सन्ध्या,
खेल रही थी सुख-सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में
हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिल कर बजते थे–
ज्यों उँगली के छू जाने से सस्वर तार विपञ्ची के।
छोटे-छोटे कुंज तलहटी गिरि-कानन की शस्यभरी,

भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में
कलनादिनी नवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी
प्रेमचन्द्र-प्रतिबिम्ब हृदय में लेकर वह खेला करती।
व्योम अष्टमी का जो तारों में रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनों—
सब प्रभात नव जीवन लेकर देते थे हमको उपहार,
मणिशलाक-सम प्रथम किरण का गहरे राग रँगी थी जो।

शीतल पवन लिये अंगों को कँपा दिया करती थी जो—
वे जाड़े की लम्बी रातें बातों में कट जाती थीं।
नया-नया उल्लास कुसुम-अवचय का मन में उठता था
सन्ध्या और सबेरा दोनों ही प्रकाशमय होता था।
चिढ़ जाता वसंत को कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से,
भद्रे! वे सब बीती बातें कैसे कहूँ, गिनाऊँ मैं?

एक दिवस जब हम दोनों ले आये फल अच्छे-अच्छे
अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढ़ा हुआ,

देखा तो आँगन में था सामान थाल में चाँदी के
और लोग एकत्र हुए थे, कैसी बातें होती थी।
मैं भी पुलकित होकर दौड़ा जा पहुँचा चाचा के पास
पूछा उनसे– 'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे बताओगे?'
उनका मुख गम्भीर हुआ, पर एक लगा हँस कर कहने–
'बच्चा! यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली।'
'हूँ' – कह कर मैं चला गया, फिर पुतली को जाकर घेरा–
'जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनों भी फल खायें।'

क्या था? कैसी वह रजनी थी? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनों थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति-कला,
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे,
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने,
किसने कहा? कौन बोला था सचमुच हमको है अज्ञात
'पुतली! क्या तुम ब्याह करोगी? ब्याह करोगी क्या मुझसे?
हम दोनों फिर जीवन-भर हो एक साथ सुख से काटें!'
पुतली थी विधु ओर देखती, बोल उठी, हाँ चौंक उठी–

देखो चन्द्र छिप गया पूरा एक मेघ के अंतर में!'

'था दूसरा बसंत मनोहर आया अपने उपवन मे
नये फूल उपहार बहुत-सा हम लोगों को लाया था
कमल सरो में खिलते थे, अलिवृन्द किया करते गुञ्जार
सन्ध्या में शोभन होते थे विस्तृत सरिता, कूल, कछार–
कोलाहल था, बहुत बड़ा उत्सव था मानो घर भर में
तोरण वन्दनवार सजाये जाते थे प्रति द्वारों में।
किन्तु हमारा हृदय स्तब्ध था– क्या यह होने वाला था!
'पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नहीं– '
यही ध्यान था उठता मन में– 'हाय प्राणप्रिय! क्या होगा?'
किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री-झनकार
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में–
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!
शहनाई बजती थी, मङ्गल-पाठ हो रहा था घर में,
भरे हुए थे नर-नारी उस सज्जित सुन्दर आँगन में

खड़ा देखता था मैं भी घर के कोने से अभिनय को,
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है?
अहा चमेली से क्यों ऐसे अलग किया जाता हूँ? मैं–
भग्न-हृदय उस गृह से बिछुड़ा, जैसे टूटा फल तरु से!

बिदा हुआ आनन्द-नगर से, जन्मभूमि से, जननी से
ऊँचे महलों से, सरिता के कूलों से, बन-बागों से,
चारणभूमि, रसाल-कुंज से– जो शैशव के परिचित थे
हृदय हुआ था विकसित जिन बृक्षों को कुसुमित देख नितांत
उनसे भी आलिंगन करके किया प्रणाम बिदाई का।
छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

गिरि-कानन, जनपद, सरितायें, कितनी पड़ी मार्ग के बीच
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था सर्वत्र।
सूर्य सबेरे ही उगते थे, सबको नित्य उठाते थे
सब अपने कामों में लगते, मैं अपने पथ पर चलता।
बह जाता था उषा-काल में दक्षिण मलयज सुखकारी

किसी वृक्ष के नीचे रहता प्रेम-पथिक थक कर सोया।
वसन्त का भी पवन दोपहर में ज्वाला बरसाता था
छाया खोज कहीं जो बैठा, श्रम जिससे मिट जाय वहीं
तो चातक आकर पुकारता अहो— 'पी कहाँ?' – निज सुख में
व्यथित हृदय हो तब मैं उसको देख कहीं जो पाता था,
तो वह अपने प्रिय की डाली पर उड़कर चल जाता था
हो जाता झंकारित मन— 'पी कहाँ?' – मनोहर बोली से
प्रिय-अनुशीलन में फिर उठता बैठ न सकता तरु-तल में
तपन तपाता था तन को फिर धूलि जलाती पैरो को
विरह-वह्नि शीतल होती थी जब आँसू बह जाते थे।
मिलते थे मैदान जहाँ तृण-वीरुध एक नहीं उगते
बालू का ही पुंज दिखाई पड़ता ज्वालामय उद्भ्रात
आर्द्र हृदय नीरद से जिससे भेट कभी की भी न रही।
पैरों की तो कौन कहे मन की भी गति रुक जाती थी
जिसके पड़े फफोले आँसू बन-बनकर बह जाते थे।
आशा तरुवर दूर दिखाई देता था— जिसकी छाया
देती थी संतोष हृदय को उस मरुभूमि-निराशा में।

एक दिवस प्राची में जब अँधियारी बढ़ती जाती थी
सन्ध्या अपना फैलाती थी प्रभाव-प्रकृति-बिहारों में
में पहुँचा गिरितटी समीप, जहाँ निर्मल सरिता बहती
हरी-भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल में अवगाहन कर शैल-शिला पर बैठ गया
शारदचन्द्र गगन मे सुन्दर लगा चमकने पूर्ण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर होकर चल जाती थी
तब जैसे 'कन्दील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकती थी
पूर्णचन्द्र की 'आँखमिचौनी'-क्रीड़ा महा मनोहर था
देख रहा था निर्निभेष हो मैं भी भावमयी क्रीड़ा,
अहा 'चमेली' का सुन्दर मुख हृदय-गगन में उदित हुआ
प्रेम-सिन्धु में प्रतिबिम्बित हो शत-शत रूप बनाता था।
धीरे-धीरे बीती बातें याद लगी पड़ने मुझको—
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न-सदृश थे बीत गये
सचमुच तन्द्रा-सी मुझको फिर लगी, मोह में मुग्ध हुआ
देवदूत-सा चन्द्रबिम्ब से एक व्यक्ति उज्वल निकला
कोमल-कण्ठ लगा कुछ कहने— ठोकर लगी विपंची में—

“पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए.
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे,
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घन-पट में।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नही जो व्यक्तिमात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रात भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं
यह तो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है
यहीं व्यक्तिगत होता है; पर प्रेम उदार, अनन्त अहो
उसमें इसमें शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है।
प्रेम, जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के

मिट्टी वा जलपिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अंतर में
रखते हैं आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।
इसके बल से तरुवर पतझड़ कर वसंत को पाते हैं
इसका सिद्धांत– मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वह रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य सत्त्व रह जाता है।"

धीरे-धीरे स्वर लहरी-सी मूर्ति लोप हो गई वही
प्रेम-बिम्ब-से स्वच्छ चन्द्र में अपने कथन-सदृश उसने
मिटा दिया अस्तित्व व्यक्ति का, केवल प्रेम-सुधाकर।

धीरे-धीरे बीत चली रजनी, आलस को साथ लिये
स्वप्न-सदृश निद्रा भी टूटी, वन-विहग के कलरव से

मिटी मलिनता, रवि-कर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो
जैसे प्रिय कर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है,
क्योंकि हो रहा था प्रभात सब प्राणी मात्र निरखते थे
राग रक्त अरुणोदय सहसा हृदय गगन में संग हुआ
फैला गया उत्साह-सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहाँ
जिममें प्रेम-पथिक अपना आनंद-मार्ग पर चल निकला।
यों ही वह विचरण करते, बहु देश निरखता नयनों से
प्रियतम-मय यह विश्व समझता यहाँ घूमता आया है।

बोली तब तापसी-कथा सुनते-सुनते जिसके मुख पर—
बहुत भाव थे झलक गये— जैसे लहरी-लीला सर में—
“क्यों किशोर! क्या अब तक तूमको उस मिट्टी की ‘पुतली’ का
ध्यान बना है? क्या अभागिनी याद तुम्हें अब भी रहती!
उस दुखिया का ध्यान लगा रखने से हो तुम दुखी हुए!”

“कौन? चमेली! अरे दयानिधि, यह क्या! कैसी लीला है!
यह कैसा है वेश? तुम्हारा वह सब वैभव कहाँ गया?
कहाँ स्निग्ध सौंदर्य तुम्हारा? वह लावण्य कहाँ है अब?

वे सब अलस-कटाक्ष कहाँ है? वे घुँघराले बाल कहाँ?
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूँद-सदृश क्या ढुलक गया?
सच है, या कि स्वप्न है, क्या आश्चर्य आज में देख रहा
यह परदा कैसा उठता है जो आँखों पर छाया था
नहीं नहीं– हाँ वही चमेली हो तुम, मेरी पुतली हो।
ओह! किन्तु दिन बीत गये– वह समय कहाँ-का-कहाँ गया!
अभिलाषाएँ रूप बदलकर अन्य हो गई अहो, कहो–
यह कुहेलिका कैसी फैली जिसमें सब बीती बातें
दिन की तरह छिपी, विस्मृति का नीला परदा डाल दिया।'

"हाँ किशोर, यह वही तुम्हारी बाल्यसखी पुतली ही है
जिसे देखते हो कानन में बनी तापसी बैठी है
कर कल्याण-कामना-जिसकी माता ने अपने हाथों
अपनी कन्या का दुर्भाग्य खरीदा"– कहा चमेली ने–
"उस विवाह से मेरी सारी स्वतन्त्रता छीनी जाकर
मुझे न कुछ भी मिला, एक क्षण स्नेह कभी करनेवाला–
– प्रेम! कहाँ?– करुणा की दृष्टि न मेरी ओर कभी घूमी

जब तक माता-पिता रहे जीवित तब तक कुछ बात नही
फिर तो लक्ष्मी दोनों घर की पत्नी उनकी दासी थी
हाँ किशोर, मैं भी सब देकर वेतनभुक्त पुजारी-सी
उस पत्थर का आराधन दिन-रात किया ही करती थी
प्रेम सहानुभूति का तो कुछ लेश न किसी हृदय में था
कभी नहीं आतंरिक भाव प्रकटित करने को जी भरकर
अश्रु दिखाई पड़े, रही नहलाती उससे अंतर में—
हृदय-रत्न वेदी पर जिसको पहले से बिठलाया था
क्योंकि और था क्या? पूजा करने को पास पुजारी के
हृदय विश्व का तत्त्व निहित है जिसमें दो ही अक्षर में
उस लिपि पढ़ने का यत्न न करता निष्ठुर हो कोई
प्रत्न तत्त्व में खँड़हर खुदवाता फिरता है जहाँ कहीं
नहीं देखता है नवनीत-रचित कितने सुन्दर मन्दिर
पाकर हल्की आँच गले वे ढेर हुए हैं अंतर में
वह नैसर्गिक शिल्प कल्पना में भी क्या आ सकती है?

दिन-पर-दिन योंही बीते वह कैसे कोई कहे अहो
जो कुछ था— सर्वस्व उड़ाकर उन्हीं स्वार्थी मित्रों में—

जो दरिद्र होने पर उनकी ओर देख सकुचाते थे।–
पति मेरे श्मशान-वासी होकर धरणी से चले गये
कुछ भी शेष नहीं था धरणी में– इस नीरस जीवन में
केवल दुःख निराशामय था, अंधकारमय अंतर था
धन-मद-वाले की पत्नी हुई, अनाथा विधवा भी
लज्ञा! सच ही लज्ञा मुझको कहने देती नहीं उसे
जिसे नर-पिशाची ने करने का उद्योग किया! मुझसे–
काम-वासना प्रकट की गई अहो मित्र की जाया से!
घोर दुःख-सागर में 'उभचुभ' हो न डूबने पाती थी
उस अनाथ के नाथ दीन-दुखहारी को अपना पाया।
वृद्ध एक प्रेरित उनसे ही एक दिवस आकर बोला–
"पुत्री! अब तुम वास यहाँ का छोड़ो, शीघ्र निकल जाओ,
जो आश्रय हो और तुम्हारा वहाँ रहो जाकर। इसको–
छोड़ो, है यह नरक– तुम्हारे रहने के उपयुक्त नहीं।"
मैंने कहा– "पिता! मेरा आश्रय प्रभु-चरण छोड़कर और
नहीं रहा संसार बीच। हाँ; तटिनी की तरङ्ग भी है
क्योंकि सहारा रहा न कुछ भी अब इस मेरे भव-तम में!"
कहा बृद्ध ने– "पुत्री, जीवन-पथ में शिक्षा कड़ी न दे

जो दुर्बल होकर जाता है. परम परीक्षक देख उसे
वहाँ गोद में आदर देकर उसे बिठाता कभी नहीं।
दूर यहाँ से एक जमींदारी मेरी है। शांति वहाँ–
जीवन-भर प्रयत्न कर संग्रह की है मैंने। चलो वही,
शांति-कुटीर बनाकर छोटे-से कानन में, प्रभु-पद में
निर्भय होकर रहो, – वहाँ कोई शंका का नाम नहीं।"
तब से आकर यही बिताती हूँ जीवन सुखमय अपना,
खग-मृग सहचर हुए, यही झोपड़ी हुई मन्दिर अपना,
जीवन-स्रोत बहा ले आया मुझको ऐसे स्थल पर
इसे कहानी समझो अथवा स्वप्न कहो निज पुतली का।"

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हाँ,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य क्या करुणानिधि को भाता है?
कृपा नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है?
किसी मनुज को देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा, गंगा यमुना की धारा बही नहीं

कौन कहेगा उसे महान्? न मरु में, उसमें अंतर है।
करुण-यमुना, प्रेम-जाह्नवी का संगम है भक्ति-प्रयाग
जहाँ शांति अक्षयवट बन कर, युग-युग तक परिवर्धित हो।
नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद!
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब ने तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखी के परम उपाय!
यह भव-धरा तुम्हीं से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयों को शीतल कर दो– जो परितापित है दुख से।
बीत रही थी रजनी भी, प्रति पत्तों से बूँदे हिम की
ढुलक रही थी, वे सब दोनों के आँसू के साथ वहाँ।

कहा जलद-गंभीर-कण्ठ से तब किशोर ने पुतली से–
“जीवन के पथ में सुख-दुख दोनों समता को पाते है,
जिसे देखकर सुखी आज सब लोग सहारा करते है
कौन कहेगा– वही मानसिक कितना कष्ट उठाता है,
अथवा, चिर दरिद्र को भी सन्तोष सुखी करता कितना!
वर्त्तमान सुख-दुख में पड़ कर हर्ष, विषाद मानता जो

उपन्पास-लेखक है वह, परिणाम-स्थिति ही सच्ची है।
चिर-दुःखी को सुख की आशा उसे असीम हर्ष देती
सुखी नित्य डरता रहता है ध्यान भविष्यत् का करके
वह कल्याण-कामना, जो, जगजनक सभी की करता है
व्यक्तिमात्र के लिए नहीं है। दुःख देखकर अपना ही
मतसमझो सब दुखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है
अप्रत्याशित, अप्रकटित, कल्याण विश्व का करता है
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश, रहस्य प्रेम के ये उसके।
हो केवल संयोग कहो फिर वियोग की रूखी फीकी–
बिना स्वाद उसका क्या है। यह लीलामय की लीला है!
केवल स्मृति दुखदायक है– उसको भूलो सपना समझो,
जीवन के कल्याण-मार्ग में प्रति पद को आगे रक्खो।
प्रबल वेग से उठते है जब वर्षा की नदियों से दृप्त–
तुमुल तरंग, गरजते-फिरते किसी कूल को प्लावित कर,
वह स्वरूप वास्तविक नहीं है इस जीवन-निर्झरिणी का।
उसी तरह से युवक-युवतियों का होता है प्रणयोच्छ्वास,
उस पर ही अन्धानुरक्त हो दुःखपूर्ण जीवन करना

महा मूर्खता है केवल उच्छृङ्खल वृत्ति पुष्टि करना
सुनो चमेली! भूलो बीती बातों को, मन को धोकर
स्वच्छ बनो, आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो होकर निष्काम
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
कहा अभी तुमने– 'साथी खग-मृग ही मेरे हुए यही'
किन्तु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द विश्वव्यापी कर दो।
क्षणभंगुर सौन्दर्य देख कर रीझो मत, देखो! देखो!!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है–
ऊपर देखो, नील-गगन-मण्डल में चमकीले तारे
नीचे हिम के विन्दु एक ही मधुर भाव प्रकटित करने,
मधुर मरुत, कल-कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है
तुङ्ग मनोहर शृंगों से सौन्दर्यमयी विमला धारा।
छोटे-छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किसका सौन्दर्य्य
इतना लेकर खिलते है, जिन पर सुन्दरता का गर्व्वी-
मानव भी मधुलुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करता-फिरता।
देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया

ताराओं का मणि-आभूषण धीरे-धीरे उतरा है।
कुसुमदलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान--
किसके क्रीड़ा-कुञ्ज-समान दिखाई देता है सुन्दर
किसी यह सम्भोग-सेज थी सजी? अभी उठ कर जैसे
चला गया है! परिमल-मिलित बूँद श्रम के ये बिखरे है।
किसकी व्यस्त अलस सुषमा थी अब तक धरणी लिये हुए
उषा चाँदनी-सी बिछती है किस सुन्दर के लिए कहो?
स्निग्ध, शांत, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे है जग में– विश्वात्मा ही सुन्दरतम है!
न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सर्वस्व; नहीं–
एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर।
उस सौन्दर्य्य-सुधासागर के कण है हम तुम दोनों ही
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नहीं फटकने पावेगा
एक सिन्धु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर
फिर न विछुडने के भय तुमको-मुझको होगा कहीं-कभी।
आओ गले नहीं प्रत्युत हम हृदय-हृदय से मिल जाये
जीवन-पथ में सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चले!”

“चलो मिले सौन्दर्य्य-प्रेमनिधि में”— तब कहा चमेली ने
“जहाँ अखण्ड शांति रहती है– वहाँ सदा स्वच्छन्द रहे!”
लगी बनाने सोने का संसार तपन की पीत विभा
स्थिर हो लगे देखने दोनों के दृग-तारा, – अरुणोदय।

●●●

जयशंकर प्रसाद

महाराणा का महत्त्व



[हिन्दीकोश]

महाराणा का महत्त्व

"क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है?"
शिविका में से मधुर शब्द यह सुन पड़ा।
दासी ने उन सैनिक लोगों से यही
– यथा प्रतिध्वनि दुहराती है शब्द को–
प्रश्न किया जो साथ-साथ थे चल रहे।

कानन के पतझड़ भी कैसा फैल के
भीषण निज आतंक दिखाता था, कड़े
सूखे पत्तों के ही 'खड़-खड़' शब्द से
अपना कुत्सित क्रोध प्रकट था कर रहा।
प्रबल प्रभंजन वेगपूर्ण था चल रहा
हरे-हरे द्रुमदल को खूब लथेड़ता
घूम रहा था, क्रूर सदृश उस भूमि में।
जैसी हरियाली थी वैसी ही वहाँ–

सूखे काँटे पत्ते बिखरे ढेर-से
बड़े मनुष्यों के पैरों से दीन-सम
जो कुचले जाते थे, ह्य-पद-वज्र से।
धूल उड़ रही थी, जो घुसकर आँख में
पथ न देखने देती सैनिक वृन्द को,
जिन वृक्षों में डाली ही अवशिष्ट थी,
अपहृत सा सर्वस्व यहाँ तक, पत्र भी—
एक न थे उनमें, कुसुमों की क्या कथा!
नव वसंत का आगम था बतला रहा
उनका ऐसा रूप, जगत-गति है यही।
पूर्ण प्रकृति की पूर्ण नीति है क्या भली,
अवनीति को जो सहन कर गंभीर हो
धूल सदृश भी नीच चढ़े सिर तो नहीं
जो होता उद्विग्न, उसे ही समय में
उस रग-कण को शीतल करने का अहो
मिलता बल है, छाया भी देता वही।
निज पराग को मिश्रित कर उनमें कभी
कर देता है उन्हें सुगंधित, मृदुल भी।

देव दिवाकर भी असह्य थे हो रहे
यह छोटा-सा झुंड सहन कर ताप को,
बढ़ता ही जाता है अपने मार्ग में।
शिविका को घेरे थे वे सैनिक सभी
जो गिनती में शत थे, प्रण में वीर थे।
मुगल चमूपति के अनुचर थे साथ में
रक्षा करते थे स्वामी के 'हरम' की।
दासी ने भी वही प्रश्न जब फिर किया -
“क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है?“
सैनिक ने बढ़ करके तब उत्तर दिया -
“अभी यहाँ से दूर निरापद स्थान है,
यह नवाब साहब की आज्ञा है कड़ी -
मत रूकना तुम क्षण भर इस मार्ग में
क्योंकि महाराणा की विचरण-भूमि है
वहाँ मार्ग में, कही मिलेगी क्षति तुम्हें
यदि ठहरोगे; रुकता हूँ इससे नहीं।“

दासी ने फिर कहा - “जरा ठहरो यहीं
क्योंकि प्यास ऐसी बेगम लगी,
चक्कर-सा मालूम हो रहा है उन्हे।“

सैनिक ने फिर दूर दिखा संकेत से
कहा कि “वह जो झुरमुट-सा है दिखता
वृक्षों का, उस जगह मिलेगा जल, उसी
घाटी तक बस चली-चलो, कुछ दूर है।“

विस्तृत तरु-शाखाओं के ही बीच में
छोटी-सी सरिता था, जल भी स्वच्छ था,
कल-कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल को आश्वासन-सा देती हुई।
ठहरा, फिर वह दल उसके ही पुलिन में
प्रखर ग्रीष्म का ताप मिटाता था वही
छोटा-सा शुचि स्रोत, हटाता क्रोध को
जैसे छोटा मधुर शब्द, हो एक ही।

अभी देर भी हुई नही उस भूमि में
उन दर्पोद्धत यवनों के उस वृन्द को,
कानन घोषित हुआ अश्व-पद-शब्द से,
'लू' समान कुछ कुछ राजपूत भी आ गये।
लगा झुलसने यवनों का दल तेज से
हुए सभी सन्नद्ध, युद्ध आरम्भ था—
पण प्राणों का लगा हुआ-सा दीखता।
युवक एक जो उनका नायक था वहाँ
राजपूत था; उसका बदन बता रहा
जैसी भौं थी चढ़ी ठीक वैसा कड़ा
चढ़ा धनुष था, वे जो आँखें लाल थी
तलवारों का भावी रंग बता रहीं।
यवन पथिक का झुण्ड बहुत घबरा गया
इन कानन-केसरियों की हुंकार से।
कहा युवक ने आगे बढ़ कर जोर से
“शस्त्र हमें जो दे देगा वह प्राण को
पावेगा प्रतिफल में, होगा मुक्त भी।”

यवन-चमूनायक भी कुछ कादर न था,
कहा– “मरूँगा करते ही कर्तव्य को–
वीर शस्त्र को देकर भीख न माँगते।”

मचा द्वन्द्व तब घोर उसी रणभूमि में
दोनों ही के अश्व हुए रथचक्र-से
रणशिक्षा, कैसा, कर-लाघव था भरा
यवन वीर ने भाला निज कर में लिया
और चलाया वेग सहित, पर क्या हुआ
राजपूत तो उसके सिर पर है खड़ा
निज हय पर, कर में भी असि उन्मुक्त है।
यवन-वीर भी घूम पड़ा असि खीच के
गुथीं बिजलियाँ दो मानो रण-व्योम में
वर्षा होने लगी रक्त के बिन्दु की,
युगल द्वितीया चन्द्र उदित अथवा हुए
धूलि-पटल को जलद-जाल-सा काट के।
किन्तु यवन का तीक्ष्ण वार अति प्रबल था,

जिसे रोकना 'राजपूत' का काम था,
रुधिर-फुहारा-पूर्ण-यवन-कर कट गया
असि जिसमें थी, वेग-सहित वह गिर पड़ा
पुच्छल तारा सदृश, केतु-आकार का।
अभी देर भी हुई नहीं शिर रुण्ड से
अलग जा पड़ा यवन-वीर का भूमि में।
बचे हुए सब यवन वही अनुगत हुए
घेर लिया शिविका को क्षत्रिय सैन्य ने।
"जय कुमार श्री अमरसिंह!" – के नाद से
कानन घोषित हुआ, पवन भी त्रस्त हो
करने लगा प्रतिध्वनि उस जय शब्द की।
राजपूत बन्दी गण को लेकर चले।

दिन भर के विश्रांत विहग-कुल नीड़ से
निकल-निकल कर लगे डाल पर बैठने।
पश्चिम निधि में दिनकर होते अस्त थे
विपुल शैल-माला अर्बुदगिरि की घनी–

शान्त हो रही थी, जीवन के शेष में
कर्मयोगरत मानव को जैसी सदा
मिलती है शुभ शांति। भली कैसी छटा
प्रकृति-करों से निर्मित कानन देश की
स्निग्ध उपल शुचि स्रोत सलिल से धो गये,
जैसे चन्द्रप्रभा में नीलाकाश भी
उज्ज्वल हो जाता है छुटी मलीनता।
महाप्राण जीवो के कीर्ति सुकेतु से
ऊँचे तरुवर खड़े शैल पर झूमते।
आर्य्य जाति के इतिहासों के लेख-सी
जल-स्रोत-सी बनी चित्र रेखावली
शैल-शिखाओं पर सुन्दर है दीखती।

करि-कर-सम कर-बीच लिये करवाल है
कौन पुरुष वह बैठा तट पर स्रोत के
दोनों आँखें उठ-उठ कर बतला रही
"जीवन-मरण" – समस्या उनमें है भरी।
यद्यपि है वह वीर श्रांत तब भी अभी

हृदय थका है नहीं, विपुल बल पूर्ण है;
क्योंकि कर्मफल-लाभ एक बल है स्वयं।
करुणामिश्रित वीरभाव उस बदन पर
अनुपम महिमा-मण्डित शोभित हो रहा
जन्म-भूमि की ओर महा करुणा भरी
यवन शत्रु प्रति कालानल के कोप-सी
दोनों आँखें, तिस पर भी गम्भीरता
हर्ष भरा है अपने ही कर्तव्य का
आजीवन जिसको वह करता आ रहा।
कहो कौन है? – आर्य्यजाति के तेज-सा?
देशभक्त, जननी का सच्चा पुत्र है,
भारतवासी! नाम बताना पड़ेगा
मसि मुख में ले अहो लेखनी क्या लिखे!
उस पवित्र प्रातःस्मरणीय सुनाम को।
नहीं, नहीं, होगी पवित्र यह लेखनी
लिखकर स्वर्णाक्षर में नाम 'प्रताप' का।
कर अपने 'प्रताप' को विस्मृत सो गये
अरे! कृतघ्न बनो मत उसको भूल के

यह महत्त्वमय नाम स्मरण करते रहो।

बैठे-बैठे वन-शोभा थे देखते –
अपनी लीला-भूमि, सुगौरव कुञ्ज की।
सालुम्ब्रापति आये, अभिवादन किया।
आर्य्यनाथ ने कहा - “कहो सरदारजी,
समाचार है कैसा अब मेवाड़ का?”

कृष्णसिंह ने कहा - “देव! इस प्रांत में
एक बार फिर आर्य्य-राज्य अब हो गया,
वीर राजपूतों की तलवारें खुली,
चमक रही मेवाड़-गगन में ज्वलित हो.
भाग रहे है भीत यवन मेवाड़ से।
राजन्! समाचार है सुखमय देश का
अभी यवन का एक वृन्द बंदी हुआ
राजकुँवर ने भेजा है उसको यहाँ
दुर्ग-द्वार पर वे बंदी है और भी,
सुनिए, उसमें है नवाब-पत्नी यहाँ।”

आर्य्यनाथ ने कहा– “किया किसने उसे
बंदी? स्त्री को क्षत्रिय देते दुख नहीं।”

कृष्णसिंह ने कहा - “प्रभो उस युद्ध में
जितने बंदी हुए सभी भेजे गये।
अब जो आज्ञा मिले बस वही ठीक है
वही किया जावेगा; पर यह बात भी
ध्यान कीजिए, वह वनिता है शत्रु की।
दिल्लीपति का सैनप हो, आया यहाँ
जो रहीमखाँ अकबर का चिर-मित्र है
उसकी ही परिणीता है यह सुन्दरी
इसका बन्दी रहना नैतिक दृष्टि से
ठीक नहीं क्या? जब तक ये सब शांत हों।”

कहा तमक कर तब प्रताप ने– “क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है!
इस अबला के बल से होगे सबल क्या?
रण में टूट ढाल तुम्हारी जो कभी

तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे? नहीं, कभी ऐसा नहीं,
दृढ-प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार-रक्षित दृढ-हृदय सु-नाव को
छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले
घोर सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है?
परम सत्य को छोड़ न हटते वीर है।
सालुम्ब्राधिपते! क्या अब होगा यही
क्षुद्रकर्म इस धर्मभूमि मेवाड़ में?
और 'अमर' ने ही नायक होकर स्वयं
किया अधम इस लज्ञाकर दुष्कर्म को!
बस, बस, ऐसे समाचार न सुनाइए
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिये।

सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह
कहिए, कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दें, चाहे हो शत्रु की
शत्रु हमारे यवन – उन्हीं से युद्ध है
यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित तो तब भी तो करना नहीं
मृगया, डर से दबी शृंगाली-वृन्द की।”

“सुन्दर मुख की जय होती सर्वत्र ही
विजित, उसे कर सकता कोई भी नहीं।
रमणी के सुकुमार अंग पर केशरी
सम्हल-सम्हल कर करता प्रेम-प्रकाश है,
प्रिये! तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केशरी,
दाँत लगा न सका; देखा - गान्धार का
सुन्दर दाख” – कहना नवाब ने प्रेम से।
कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी

देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में;
खिसक गई डर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध-सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।
आभूषण भी झन-झन कर बस रह गये।
सुमन-कुंज से पचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा – "चुप भी रहिए जरा
जिसकी नारी छोड़ी जाकर शत्रु से,
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर!"
अपने हँसते मुख को शीघ्र बढ़ा दिया।
तब नवाब ने पानपात्र निश्शेष कर
अच्छा है दुर्जन-कृत बहुसम्मान से।
सज्ञन-कृत अपमान न होता है कभी
हृदय दिखाने को, होता वह भूल से;
किन्तु नीच नर जो करता सम्मान है
उसमें भी उसका घमण्ड है छिप रहा
केवल आडम्बर में निज अभ्यर्थना

करता है वह अपनी कुत्सित नीति से।“
“बस बस, बातें अब विशेष न बनाइए”
कहा सुन्दरी ने – “यह सब भी ढंग है
प्रत्युत्तर की अनुपस्थिति में हास भी
पाद-पूर्त्ति-सा होता है दुष्काव्य में,
यह थोथा पाण्डित्य न आज बघारिए
होता जो निरुपाय वही क्या सरल है?”
“प्रिये! मर्म की बातें मत ऐसी कहो
इससे होता दुःख - ” कहा नव्वाब ने -
“मैं जब से सेनापति हो आया यहाँ
सचमुच बीर प्रताप सदा विजयी रहा
मैं होकर निश्चेष्ट देखता था वही -
रण-क्रीड़ा स्वाधीना जननी-भूमि के
वीर पुत्र की, निर्निमेष होकर अहो!
तुर्क देश से लेकर हाँ गान्धार तक
वीर भूमि के शतशः कानन देख कर
वीर कथाओं को सुन कर भी आज तक
प्राप्त न हुई कभी थी मुझे प्रसन्नता;

क्योंकि सभी वे क्रूर और निर्दय मिले
युद्ध-कार्य करते थे अपने स्वार्थ से।
जन्मभूमि के लिए, प्रजा-सुख के लिए
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया?
दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड़ कर
सूखे पत्ते कौन चबाता है कहो -
मातृ-भूमि की भक्ति, देशहित-कामना,
किसको उत्तेजित करती है, वे कहाँ?
जिस कानन में पहुँचा युद्ध-विनोद में
सदा मिला सन्नद्ध, लिये तलवार ही,
गिरि-कन्दर से देख स्वकीय शिकार को
जैसे झपटे सिंह, वही विक्रम किये
वीर 'प्रताप' दहकता था दावाग्नि-सा
सत्य प्रिये! मैं देख शूर-छवि वीर की
होता था निश्चेष्ट, वाह कैसी प्रभा!
कितने युद्धो में मेरी निश्चेष्टता
हुई विजय का कारण वीर 'प्रताप' के,
क्योंकि मुग्ध होकर मैं उनको देखता।"

“कोरी भक्ति भला होती किस-काम की
कुछ उसका उपयोग अवश्य दिखाइए -”
कहा सुन्दरी ने तन कर कुछ गर्व से–
”सच्चे तुर्क न होते कभी कृतघ्न है।”
“प्रिये! भला किस मुख से मैं तलवार अब
लेकर कर में समर करूँ उस वीर से,
मिलती मुझे पराजय भी यदि युद्ध में
तो भी इतना क्षोभ न होता हृदय में।”
कहा, देख कर नत दृग से नव्वाब ने–

”जिसकी महिमा गाते है समकण्ठ से
भारत के नर-नारी, उस सम्राट का
बढ़ा महत्त्व, हुई प्रताप से शत्रुता
सचमुच ऐसा वीर उदार कहाँ मिले।
मैं तो अब, फिर जाऊँगा दिल्ली अभी,
चाहे मुझको लोग भले कायर कहे
उस अपयश को सह लूँगा में भले ही

किन्तु न सैनप-पद अब मेरे योग्य है।

कहा पास में और खिसक कर प्रेम से
कमल-लोचन बेगम ने नव्वाब से—

“प्रियतम! सचमुच यह पार्वत्य प्रदेश भी
अब न मुझे अच्छा लगता है, शीघ्र ही
मैं चलना चाहती सुखद काश्मीर को।
कुछ दिन की छुट्टी लेकर सम्राट से,
चलिए जल-परिवर्तन करने शीघ्र ही
और हो सके तो मिलकर सम्राट से,
राणा से शुभ संधि करा ही दीजिये।”

“मुग्धे! इतने पर भी परिचित नहीं
कुलमानी, दृढ, वीर महान् ‘प्रताप’ से
भला करेगा संधि कभी वह यवन से?
कई हो चुके है प्रस्ताव मिलाप के
पर प्रताप निज दृढता ही पर अटल है-”
कहा खानखाना ने कुछ गम्भीर हो -

“वामलोचने! कर्मयोग-रत वीर को
मिलती सिद्धि सदा अपने सत्कर्म से
उसके कुछ संयोग स्वयं बन जायँगे
ऐसे, जिससे उसको मिले अभीष्ट फल।
सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन में पला हुआ वह वीर है
सच 'प्रताप’ को स्वयं मिलेगी सम्पदा
परमपिता की जो होगी शुभ कामना
तो वह मुझे बनावेगा अपना कभी
परिचारक साधन में इस सत्कार्य्य के।”

तारक-हीरक-हार पहन कर, चंद्रमुख–
दिखलाती, उतरी आती थी चाँदनी
(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से
अकबर के साम्राज्य भवन के द्वार से

निकल रही थी लपट सुगन्ध सनी हुई
बसरा के 'गुलाब' से वासित हो रहा,
भारत का सुख शीत पवन, जैसे कहीं
मिले विलास नवीन विवेकी हृदय से
राज-भवन से मणिमय दीपाधार सब
स्वयं प्रकाशित होते थे, आलोक भी
फैल रहा था, स्वच्छ सुविस्तृत भवन में
कृत्रिम मणिमय लता, भित्ति पर जो बनी
नव वसन्त-सा उन्हें विमल आलोक ही
मुक्ताफलशालिनी बनाता था वहाँ,
कुसुम-कली की मालायें थी झूमती
तोरण-बंदनवार हरे हरे द्रुमपत्र के।
सुरभि पवन से सब कलियाँ खिलने लगी,
कृश मालाएँ गजरे-सी अब हो गई।

सज्ज सभागृह में सब अपने स्थान पर
बन्दी, चारण प्रतिहारीगण थे खड़े,
ढले हुए सुन्दर साँचे में शिल्प के

पुतले-जैसे सजे हुये हों भवन में।
पुष्पाधार, सजाये कुसुमित क्यारियाँ,
मौन खड़े थे सुन्दर मालाकार-से;
कृत्रिम भँवर न गूँज रहा था त्रास से।
सुन्दर मणिमय मंच मनोरम था लगा,
बैठे थे उपधान सहारे हिन्द के—
अकबर शाहंशाह चिबुक कर पर धरे।
अभिवादन कर, खड़े रहे निर्दिष्ट निज-
स्थानों पर सब चतुर शिरोमणि मंत्रिगण
उस प्रभावशाली सतेज दरबार में
क्षत्रिय नरपतिगण भी सविनय थे झुके।

तब रहीमखाँ के प्रति रुख करके, चतुर—
अकबर ने कुछ हँस कर पूछा व्यंग से—
"कहिए यहाँ आगरे की जलवायु से
स्वास्थ्य हुआ अब ठीक आपका या नहीं?"

कहा खानखाना ने सिर नीचे किये—

“शहंशाह अब भी कुछ वैसा है नहीं
जैसा अच्छा होना हूँ मैं चाहता,
इसीलिए अब मेरी है यह प्रार्थना
मुझे हुक्म हो तो जाऊँ काश्मीर ही,
क्योंकि वही जलवायु मुझे है स्वास्थ्यकर;
यही बताया है हकीम ने भी मुझे।”

अकबर ने फिर कहा - “भला यह तो कहो,
क्योंकर ऐसा स्वास्थ्य तुम्हारा हो गया?”

कहा खानखाना ने फिर कुछ नम्र हो—
“बस हुजूर, मुझसे न! वही कहलाइए
जिसे आपसे कहा नहीं मैं चाहता।
क्षमा कीजिये। यदि आज्ञा होगी कि हाँ,
कहो! मुझे फिर सच कहना ही पड़ेगा।”

अकबर ने तब कहा - “सत्य निर्भय कहो।”

कहा खानखाना ने झुक कर - “जिस दिवस

मुझे बनाकर सैनप भेजा आपने
वीरभूमि मेवाड़-विजय के हेतु, हाँ—
उस दिन सचमुच मुझे असीम प्रसन्नता
हुई कि, मैं भी देखूँगी उस वीर को,
जो अब तक होकर अबाध्य सम्राट का
करता है सामना बड़े उत्साह से!
सचमुच शाहंशाह एक ही शत्रु वह
मिला आपको है कुछ ऊँचे भाग्य से;
पर्वत की कन्दरा महल है, बाग है—
जंगल ही आहार-घास, फल-फूल है
सच्चा हृदय सहायक, उसके साथ है।
मुगल-वाहिनी से होता जब सामना
भिड़ जाना सन्मुख उसका कर्तव्य था।
सुकुमारी कन्या औ' बालक का कभी
छिन जाता आहार बना जो घास से।
वे भी जब है अश्रु बहाते नहीं तो
होता है पाषाण-हृदय द्रवमय कभी।
तिस पर भी उसके इस हृदय-महत्त्व का

कैसे में वर्णन कर सकता हूँ प्रभो!
राजकुँवर ने बेगम को बन्दी किया
फिर भी सादर उसे भेज कर पास में
मेरे, मुझको कैसा है लज्जित किया,
मनोवेदना से मैं व्याकुल हो उठा;
इसीलिये यह रोग हुआ है असल में।
इससे छुटकारे का एक उपाय है–
आज्ञा हो तो मैं भी कुछ बिनती करूँ।"
हँसे और बोले अकबर– "हाँ हाँ कहो,
सब मुझको है विदित, हुआ जो-जो वहाँ।"

कहा खानखाना ने - "राणा ने कभी–
किया नही आक्रमण आप के राज्य पर।
अपने छोटे राज्य मात्र से तुष्ट है,
और किसी से भड़क रही हो शत्रुता
तो वह अपने भुजबल से जो कर सके
करे, शिथिल होगा। तो भी बल आपका
बढ़ा रहेगा। ऐसे सज्जन व्यक्ति से

आप क्यों न अपना महत्त्व दिखलाइए।
सच कहिए, क्या ऐसे उन्नत-हृदय को
दुख देना है अच्छा ईश्वर-नीति में?
केवल चुप हो जाना ही है आपका–
सन्धि शांति के मंगलघोष-समान ही,
दो महत्त्वमय हृदय एक जब हो गये
फैलेगा फिर वह महान सौरभ यहाँ
जिसके सुखमय गंध-प्रेम में मत्त हो,
भारत के न गावेंगे यश आपका।"
अकबर ने फिर कहा– "बात यह ठीक है,
अब न लड़ाई राणा से उपयुक्त है।
भेजो आज्ञापत्र शीघ्र उस सैन्य को,
सब जल्दी ही चले आयँ अजमेर में।"

कहा खानखाना ने– "हे उन्नत हृदय–
भारत के सम्राट! दयामय आपकी
सुयश-लता का बीज उर्वरा-भूमि में
शांति-वारि से सिञ्चित हो, फलवती हो।

अब न काम है जाने का काश्मीर को

इन चरणों की सेवा ही भू-स्वर्ग है!”

•••

जयशंकर प्रसाद

कामायनी



[हिन्दीकोश]

कामायनी

सूची

आमुख

आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम-युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्व इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कर कर अलग कर दिया जाता है; क्योंकि उन चरितों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में संबंध लगा हुआ सा दीखता है। घटनाएँ कहीं अतिरंजित सी भी जान पड़ती है। तथ्य-संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश

घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से आरम्भ होती है, ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरंजित सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती है। सम्भवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा, जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास का रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते है। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता

है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।

जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। 'मनवे वै प्रातः' इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मिलता है। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्त्तक मनु हुए। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष है। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज है। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें श्रद्धादेव कहा गया है, 'श्रद्धादेवो वै मनु' (का. 1 प्र. 1)। भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

> "ततो मनु श्रद्धादेव सञ्ज्ञायामास भारत
> श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।" (9-1-11)

छांदोग्य उपनिषद् में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। "यदावै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धन् मनुते" यह कुछ निरुक्त की सी

व्याख्या है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त में सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, "कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका"। श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। मनु प्रथम पथप्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करनेवाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओं के नायक है – "मनुर्ववा अग्ने अङ्नेनेजे, यदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते" (5-1 शतपथ)। इनके संबंध में वैदिक साहित्य में बहुत-सी बातें बिखरी हुई मिलती है; किन्तु उनका क्रम स्पष्ट नहीं है। जल प्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है; जिसमें उनकी नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश में पहुँचने का प्रसंग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते है। "अपीपरे वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात् – तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्वससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति" (8-1)।

श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुरोहित के मिल जाने से इन्होंने पशु-बलि की। "किलाताकुली – इति

हासुरब्रह्मावासतु। तौ होचतुः – श्रद्धादेवो वै मनुः – आवं न वेदावेति। तौ हागत्योचतुः – मनो! बाजयाव त्वेति।"

इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव प्रवृत्ति जाग उठी; उसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इड़ा के संबंध में शतपथ में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई और उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने पूछा कि "तुम कौन हो?" इड़ा ने कहा, "तुम्हारी दुहिता हूँ।" मनु ने पूछा कि "मेरी दुहिता कैसे?" उसने कहा, "तुम्हारे दही, घी इत्यादि के हवियों से ही मेरा पोषण हुआ है।" "ता ह" मनुरुवाच – "का असि" इति। "तव दुहिता" इति। "कथं भवगति? दुहिता" इति। (शतपथ 6 प्र. 3 ब्रा.)

इड़ा के लिए मनु को अत्याधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे कुछ खिंचे। श्रग्वेद में इड़ा का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका मनुष्यों का शासन करनेवाली कही गयी है। "इडामकृण्वन्मनुष्यस्य शासनीम्" (1-31-11 ऋग्वेद)। इड़ा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कई मंत्र मिलते है – "सरस्वती साधयन्ती धिय न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्तिः तिस्रो देवीः स्वधयार्बहिरेदमच्छिद्र पान्तु शरण निषद्य।" (ऋग्वेद 2-3-8) "आनो यज्ञ भारतीतूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्वर्हिरेद स्योनं सरस्वती स्वपस सदन्तु।" (ऋग्वेद 10-11-8)। इन मंत्रों में

मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती की प्रतिनिधि भारती, सरस्वती के साथ इड़ा का नाम आया है। लौकिक संस्कृत में इड़ा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है।"गो भू वाचस्त्विड़ा इला।" (अमर) इस इड़ा या वाक् के साथ मनु या मन के एक और विवाद का भी शतपथ में उल्लेख मिलता है जिसमें दोनों अपने महत्त्व के लिए झगड़ते है। "अथातोमनशश्च" इत्यादि (4 अध्याय 5 ब्राह्मण)। ऋग्वेद में इड़ा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। पिछले काल में सम्भवतः इड़ा को पृथ्वी आदि से सम्बद्ध कर दिया गया हो, किन्तु ऋग्वेद 5-5-8 में इड़ा और सरस्वती के साथ मही का अलग उल्लेख स्पष्ट है। "इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव" से मालूम पड़ता है कि मही से इड़ा भिन्न है। इड़ा को मेधसवाहिनी नाड़ी भी कहा गया है।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा। 'तद्वै देवानां आग आस' (7-5 शतपथ)। इस अपराध के कारण उन्हें दण्ड भोगना पड़ा। "तंरुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध।" (7-4 शतपथ) इड़ा देवताओं की स्वसा थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी। इसीलिए यज्ञों में इड़ा कर्म होता है। यह इड़ा का बुद्धिवाद, श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में

सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु' (ऋग्वेद 10-151-4) इन्हीं के आधार पर 'कामायनी' की कथा-सृष्टि हुई है। हाँ, 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नहीं छोड़ सका हूँ।

– जयशंकर प्रसाद।

चिन्ता

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह!

नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।

दूर-दूर तक, विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता सी शिला चरण से टकराता फिरता पवमान।

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करना सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का, होता था सकरुण अवसान।

उसी तपस्वी से लम्बे, थे देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें,स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

चिंता-कातर बदन हो रहा पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन था बहता भीतर मधुमय स्रोत।

बँधी महा-बट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही।

निकल रही थी मर्म वेदना, करुणा विकल कहानी सी;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी पहचानी सी।

"ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप सी मतवाली!

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल - रेखा!

इस ग्रह की हलचल! री तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली, बहरी!

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी! अरी आधि, मधुमय अभिशाप!

हृदय-गगन में धूमकेतु सी, पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप!

मनन करावेगी तू कितना? उस निश्चित जाति का जीव;
अमर मरेगा क्या? तू कितनी गहरी डाल रही हैं नींव।

आह! घिरेगी हृदय लहलहे खेतों पर करका-घन सी!
छिपी रहेगी अंतरतम में सब के तू निगूढ़ धन सी।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप हैं तू, जा, चल, जा यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले, नीरवते! बस चुप कर दें;
चेतनता चल जा, जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की, उस सुख की;
उतनी ही अनंत मे बनती जातीं रेखायें दुख की।

आह सर्ग के अग्रदूत! तुम असफल हुए, विलीन हुए!

भक्षक या रक्षक, जो समझो, केवल अपने मीन हुए।

अरी आँधियों! ओ बिजली की दिवा-रात्रि तेरा नर्तन!
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।

मणि-दीपों के अंधकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य!
देव-दम्भ के महा मेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य।

अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जय नाद!
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।

वे सब डूबे, डूबा उनका विभव , बन गया पारावार;
उमड़ रहे हैं देव सुखों पर दुःख जलधि का नाद अपार।"

"वह उन्मत्त विलास हुआ? स्वप्न रहा या छलना थी!

देव सृष्टि की सुख विभावरी ताराओं की कलना थी।

चलते थे सुरभित अञ्चल से जीवन के मधुमय निश्वास;
कोलाहल में मुखरित होता देव जाति की सुख-विश्वास।

सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना;
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के बल, वैभव, आनन्द अपार;
उद्वेलित लहरों सा होता, उस समृद्धि का सुख-संचार।

कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती अरूण किरण सी चारों ओर;
सप्त सिन्धु के तरल कणों में, द्रुम दल में, आनन्द-विभोर।

शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति था पद-तल में विनम्र विश्रांत;
कँपती धरणी, उन चरणों से हो कर प्रतिदिन ही आक्रांत!

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यों न विशृंखल होती सृष्टि;
अरे अचानक हुई इसी से कड़ी आपदाओं की वृष्टि।

गया, सभी कुछ गया, मधुरतम सुर बालाओं का शृंगार;
ऊषा ज्योत्स्ना सा यौवन-स्मित, मधुप सदृश निश्चित विहार।

भरी वासना-सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह;
प्रलय-जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह।”

“चिर किशोर-वय, नित्य विलासी, सुरभित जिससे रहा दिगंत;
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसंत?

कुसुमित कुञ्जों में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन;
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।

अब न कपोलों पर छाया सी पड़ती मुख की सुरभित भाप;
भुज मूलों में,शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार;
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगंत पूरित था, अंतरिक्ष आलोक-अधीर;
सब में एक अचेतन गति थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर!

वह अनंग पीड़ा अनुभव सा अंग भंगियों का नर्त्तन;
मधुकर के मरंद-उत्सव सा मंदिर भाव से आवर्त्तन।

सुरा सुरभिमय बदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।

विकल वासना के प्रतिनिधि वे सब मुरझाये चले गये;
आह! जले अपनी ज्वाला से, फिर वे जल में गले गये।"

"अरी उपेक्षा-भरी अमरते! री अतृप्ति! निर्वाध विलास!
द्विधा-रहित अपलक नयनों की! भूख भरी दर्शन की प्यास!

बिछुड़े तेरे सब आलिंगन, पुलक स्पर्श का पता नही;
मधुमय चुंबन कातरतायें आज न मुख को सता रही।

रत्न सौध के वातायन, जिनमें आता मधु-मन्दिर समीर;
टकराती होती अब वहाँ हो रही तिमिंगिलों की भीड़ अधीर।

देव कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि;

वे अम्लान कुसुम सुरभित, मणि-रचित मनोहर मालायें,
बनी श्रृंखला जकड़ी जिनमें विलासिनी सुर बालायें।

देव-यजन के पशु यज्ञों की वह पूर्णाहुति की ज्वाला;
जलनिधि में बन जलती कैसी आज लहरियों की माला!

उनको देख कौन रोया यों अंतरिक्ष में बैठ अधीर!
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रालेय हलाहल नीर!

हाहाकार हुआ क्रंदन मय कठिन कुलिश होते थे चूर;
हुए दिगंत बधिर भीषण रव बार बार होता था क्रूर।

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे, क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकंपन, झंझा के चलते झटके।

अंधकार में मलिन मित्र की धुँधली आभा लीन हुई;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।

पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात;
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रही ज्यों खोया प्रात।

बार बार उस भीषण रव से कँपती धरती देख विशेष;
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष।

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरंगघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी;
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

बढ़ने लगा विलास वेग सा वह अति भैरव जल संघात;

तरल तिमिर से प्रलय पवन का होता आलिंगन, प्रतिघात।

बेला क्षण क्षण निकट आ रही क्षितिज क्षीण, फिर लीन हुआ;
उदधि डुबाकर अखिल धरा को बस मर्यादा हीन हुआ।

करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सब का;
पंचमूल का यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कब का।"

"एक नाव थी, और न उसमें डाँड़े लगते , या पतवार;
तरल तरंगों से उठ गिर कर बहती पगली बारम्बार!

लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं;
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं।

लहरें व्योम चूमती उठती, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति रचतीं।

चपलायें उस जलधि विश्व में स्वयं चमत्कृत होती थी;

ज्यों विराट बाड़व ज्वालायें खंड-खंड हो रोती थी।

जलनिधि के तल वासी जलधर विकल निकलते उतराते;
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी कौन! कहाँ! सुख पाते?

घनीभूत हो उठे पवन, फिर श्वासों की गति होती रुद्ध;
और चेतना थी बिलखाती, दृष्टि विफल होती थी क्रुद्ध।

उस विराट आलोड़न में , ग्रह तारा बुद-बुद से लगते।
प्रखर प्रलय पावस में जगमग, ज्योतिरिंगणों से जगते।

प्रहर दिवस कितने बीते, अब इसको कौन बता सकता!
इनके सूचक उपकरणों का चिह्न न कोई पा सकता।

काला शासन -चक्र मृत्यु का कब तक चला न स्मरण रहा;
महा मत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा।

किन्तु उसी ने ला टकराया इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।

आज अमरता का जीवित हूँ मैं वह भीषण जर्जर दम्भ;
आह सर्ग के प्रथम अंक का अधम पात्र मय सा विष्कंभ।”

“ओ जीवन की मरु मरीचिका, कायरता के अलस विषाद!
अरे पुरातन अमृत! अगतिमय मोहमुग्ध जर्जर अवसाद।

मौन! नाश! विध्वंस! अंधेरा! शून्य बना जो प्रगट अभाव;
वही सत्य हैं, अरी अमरते! तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल;
तू अनंत मे लहर बनाती काल-जलधि की-सी हलचल।

महा-नृत्य का विषम सम, अरी अखिल स्पंदनों की तू माप;
तेरी ही विभूति बनती हैं सृष्टि सदा हो कर अभिशाप।

अंधकार के अट्टहास सी, मुखरित सतत चिरंतन सत्य;
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू, यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश हैं व्यक्त नील घन-माला में;
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।”

पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी साँस;
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि बनी हिम-शिलाओं के पास।

धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का तांडव नृत्य;
आकर्षण विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।

मृत्यु-सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि;
परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि।

वाष्प बना उड़ता जाता था या वह भीषण जल संघात;
सौर चक्र मे आवर्तन था प्रलय निशा का होता प्रात!

आशा

उषा सुनहले तीर बरसाती जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे-धीरे हिम-आच्छादन हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोती शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार बार जाती सोने।

सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी ऐंठी सी।

देखा मनु ने वह अतिरंजित विजन विश्व का नव एकांत;
जैसे कोलाहल सोया हो हिम शीतल जड़ता सा श्रांत।

इंद्रनील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका;
आज पवन मृदु साँस ले रहा जैसे बीत गया खटका।

वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज;
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।

“विश्वदेव, सविता या पूषा सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये फिर भी कितने निबल रहे!

विकल हुआ सा काँप रहा था, सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले;
हाँ — कि गर्व-रथ में तुरंग सा; जितना जो चाहे जुत ले।”

“महानील इस परम व्योम में , अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान;
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान!

छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ।

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम? कुछ हो, ऐसा होता भान” —
मंद गंभीर धीर स्वर संयुक्त यही कर रहा सागर गान।

“यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा बनकर प्राण समीर!

यह कितनी स्पृहणीय बन गई मधुर जागरण सी छविमान;
स्मिति की लहरों सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान।

जीवन! जीवन! की पुकार है खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता नव प्रभात का शुभ उत्साह।

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में!
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ' शाश्वत नभ के गानों में।

यह संकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकास-मयी;
जीवन की लालसा आज क्यों इतनी प्रखर विलास-मयी?

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी, जीकर क्या करना होगा?
देव! बता दो, अमर वेदना लेकर कब मरना होगा?”

एक यवनिका हटी, पवन से प्रेरित माया पट जैसी;
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी हरी भरी फिर भी वैसी।

स्वर्ण शालियों की कलमें थी दूर दूर तक फैल रही;
शरद इंदिरा के मंदिर की मानो कोई गैल रही।

विश्व-कल्पना सा ऊँचा वह सुख शीतल संतोष निदान;
और डूबती सी अचला का अवलंबन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम लता कलित शुचि सानु शरीर;
निद्रा में सुख स्वप्न देखता जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड़ रही जिसके चरणों में नीरवता की विमल विभूति;
शीतल झरनों की धारायें बिखरातीं जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले अंचल में देख किसी की मृदु मुसक्यान;
मानो हँसी हिमालय की हैं फूट चली करती कल गान।

शिला-सन्धियों से टकरा कर पवन भर रहा था गुंजार;
उस दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का करता चारण सदृश प्रचार।

संध्या-घनमाला की सुन्दर ओढ़े रंग बिरंगी छींट;
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ पहने हुए तुषार किरीट।

विश्व मौन, गौरव, महत्त्व की प्रतिनिधियों सी भरी विभा;
इस अनन्त प्रांगण में मानो जोड़ रही हैं मौन सभा

वह अनन्त नीलिमा व्योम की जड़ता सी जो शांत रही;
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे निज अभाव में भ्रांत रही।

उसे दिखाती जगती का सुख, हँसी और उल्लास अजान;
मानो तुंग तरंग विश्व की हिमगिरि की वह सुढर उठान।

थी अनन्त की गोद सदृश जो विस्तृत गृहा वहाँ रमणीय;
उसमें मनु ने स्थान बनाया सुन्दर, स्वच्छ और वरणीय।

पहला संचित अग्नि जल रहा पास मलिन द्युति रवि कर से;

शक्ति और जागरण चिह्न-सा लगा धधकने अब फिर से।

जलने लगा निरंतर उनका अग्निहोत्र सागर के तीर;
मनु ने तप में जीवन अपना किया समर्पण होकर धीर।

सजग हुई फिर से सुर संस्कृति, देव यजन की वर माया;
उन पर लगी डालने अपनी कर्ममयी शीतल छाया।

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है क्षितिज बीच अरुणोदय कांत;
लगे देखने लुब्ध नयन से प्रकृति विभूति मनोहर शांत।

पाक यज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने;
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना लगी धूम पट थी बुनने।

शुष्क डालियों से वृक्षों की अग्नि अर्चियाँ हुई समिद्ध;
आहुति की नव धूम गंध से नभ, कानन हो गया समृद्ध।

और सोचकर अपने मन में, जैसे हम हैं बचे हुए;

क्या आश्चर्य और कोई हो जीवन लीला रचे हुए।

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ कही दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित समझ सहज सुख पाते थे।

दुख का गहन पाठ पढ़ कर अब सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में मग्न अकेले रहते थे।

मनन किया करते वे बैठे ज्वलित अग्नि के पास वहाँ;
एक सजीव तपस्या जैसे पतझड़ में कर वास रहा।

फिर भी धड़कन कभी हृदय में होती, चिंता कभी नवीन;
यों ही लगा बीतने उनका जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे अंधकार की माया में;
रंग बदलते जो पल-पल में उस विराट की छाया में।

अर्ध प्रस्फुटित उतर मिलते प्रकृति सकर्मक रही समस्त;
निज अस्तित्व बना रखने में जीवन आज हुआ था व्यस्त।

तप में निरत हुए मनु, नियमित – कर्म लगे अपना करने;
विश्व रंग में कर्मजाल के सूत्र लगे घन हो घिरने।

उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे-धीरे;
एक शान्त स्पंदन लहरों का होता ज्यों सागर तीरे।

विजन जगत की तंद्रा में तब चलता था सूना सपना;
ग्रह पथ के आलोक वृत से काल जाल तनता अपना।

प्रहर दिवस रजनी आती थी चल जाती संदेश-विहीन;
एक विराग-पूर्ण संसृति में ज्यों निष्फल आरंभ नवीन।

धवल मनोहर चंद्र बिम्ब से अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा पुलकित हो पावन उद्गीथ।

नीचे दूर दूर विस्तृत था उर्मिल सागर व्यथित अधीर;
अंतरिक्ष में व्यस्त उसी सा रहा चंद्रिका-निधि गंभीर।

खुली उसी रमणीय दृश्य में अलस चेतना की आँखें;
हृदय कुसुम की खिली अचानक मधु से वे भीगी पाँखें।

व्यक्त नील में चल प्रकाश का कंपन सुख बन बजता था;
एक अतींद्रिय स्वप्न लोक का मधुर रहस्य उलझता था।

नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान;
चिर परिचित सा चाह रहा था द्वंद्व सुखद करके अनुमान।

दिवा रात्रि या – मित्र वरुण की बाला का अक्षय श्रृंगार;
मिलन लगा हँसने जीवन के उर्मिल सागर के उस पार।

तप से संयम का संचित बल तृषित और व्याकुल था आज;
अट्टहास कर उठा रिक्त का वह अधीर तम, सूना राज।

धीर समीर परस से पुलकित विकल हो चला श्रांत शरीर;
आशा की उलझी अलकों से उठी लहर मधुगंध अधीर।

मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट;
संवेदन! जीवन-जगती को जो कटुता से देता घोट।

“आह! कल्पना का सुन्दर यह जगत मधुर कितना होता!
सुख-स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता – सोता।

संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता;
फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता!

कब तक और अकेले? कह दो हे मेरे जीवन बोलो?
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत अपनी निधि न व्यर्थ खोलो!

“तम के सुन्दरतम रहस्य, हे कांति किरण रंजित तारा!
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल बिन्दु, भरे नव रस सारा।

आतप तापित जीवन सुख की शांतिमयी छाया के देश,

हे अनंत की गणना देते तुम कितना मधुमय संदेश!

आह शून्यते! चुप होने में तू क्यों इतनी चतुर हुई?
इंद्रजाल जननी! रजनी तू क्यों अब इतनी मधुर हुई?

“जब कामना सिंधु तट आयी ले सन्ध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यों अरी प्रतीप?

इस अनंत काले शासन का वह जब उच्छृंखल इतिहास।
आँसू औ' तम घोल लिख रही तू सहसा करती मृदु हास।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से –
आती चूम-चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से।

किस दिगंत रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास।

विकल खिलखिलाती हैं क्यों तू? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;

तुहिन कणों , फेनिल लहरों में, मच जावेगी फिर अंधेर।

घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी किसको स्मृति पथ में लाती?

रजत कुसुम के नव पराग सी उड़ा न दे तू इतनी धूल;
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली! तू इसमें जावेगी भूल।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख, बिखरती हैं मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।

फटा हुआ था नील बसन क्या ओ यौवन की मतवाली!
देख, अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली।

ऐसे अतुल अनंत विश्व में जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?
या भूली सी खोज रही कुछ जीवन की छाती के दाग!

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!

प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या? मन जिसमें सुख सोता था!

मिले कहीं वह पड़ा अचानक उसको भी न लुटा देना;
देख तुझे न दूँगा तेरा; भाग, न उसे भुला देना!"

श्रद्धा

"कौन तुम? संसृति-जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक;
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक?

मधुर विश्रांत और एकान्त- जगत का सुलझा हुआ रहस्य;
एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य!"

सुना यह मनु ने मधु गुंजार मधुकरी का सा जब सानंद;

किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद;

एक झिटका सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे से, कौन –
गा रहा यह सुन्दर संगीत? कुतूहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इंद्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

मसृण गांधार देश के, नील रोम वाले मेषों के चर्म;
ढक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-बीच जब घिरते हों घन श्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी मे अश्रांत।

घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान! रक्त किसलय पर ले विश्राम;
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से हो दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ मे स्फूर्ति।

उषा की पहली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द पवन प्रेरित सौरभ साकार;
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध!

कहा मनु ने, “नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का सा जलता भ्रांत, शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य, गल नही सका जो कि हिम खंड;
दौड़ कर मिला न जलनिधि अंक आह वैसा ही हूँ पाषंड।

पहेली सा जीवन है व्यस्त उसे सुलझाने का अभिमान;
बताता हुँ विस्मृति का मार्ग चल रहा हूँ बन कर अनजान।

भूलता ही जाता दिन रात सजल अभिलाषा कलित अतीत;
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य, दीन जीवन का यह संगीत।

क्या कहूँ, क्या हूँ में उद्भ्रांत? विवर में नील गगन के आज;
वायु की भटकी एक तरंग, शून्यता का उजड़ा सा राज।

एक विस्मृति की स्तूप अचेत ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन राशि सफलता का संकलित विलम्ब।

“कौन हो तुम वसंत के दूत, विरस पतझड़ मे अति सुकुमार;

घन तिमिर में चपला की रेख, तपन मे शीतल मंद बयार।

नखत की आशा किरण समान हृदय की कोमल कवि की कांत–

कल्पना की लधु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शांत!”

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति मिटाता उत्कंठा सविशेष;

दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश: –

“भरा था मन में नव उत्साह सीख लूँ ललित कला का ज्ञान;

इधर रह गंधर्वों के देश, पिता की हूँ प्यारी संतान।

घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;

कुतूहल खोज रहा था व्यस्त हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर प्रश्न करता मन अधिक अधीर;
धरा की यह सिकुड़न भयभीत आह, कैसी है? क्या है पीर?

मधुरिमा में अपनी ही मौन, एक सोया संदेश महान;
सजग हो करता था संकेत; चेतना मचल उठी अनजान।

बढ़ा मन और चले थे पैर, शैल मालाओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख आह कितना सुन्दर सम्भार।

एक दिन सहसा सिंधु अपार लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरूपाय आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न, भूत-हित-रत किसका यह दान!
इधर कोई है अभी सजीव, हुआ ऐसा मन मे अनुमान।

तपस्वी! क्यों इतने हो क्लांत? वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश बताओ यह कैसा उद्वेग!

हृदय में क्या हैं नहीं अधीर , लालसा जीवन की निश्शेष!
कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश?

दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान;
काम से झिझक रहे हो आज, भविष्यत् से बन कर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त!

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का हैं परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।

"दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील छिपाये हैं जिसमें सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत इसको जाओ भूल;

विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरो बीच बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान!”

लगे कहने मनु सहित विषाद: – “मधुर मारुत से ये उच्छ्वास;
अधिक उत्साह तरंग अबाध उठाते मानस मे सविलास।

किन्तु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख नही सन्देह;
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगंतुक ने सस्नेह: – "अरे, तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नही केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;

तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन के श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गंभीर;
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भू खंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनंद।

अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते? तुच्छ विचार!
तपस्वी! आकर्षण से हीन कर सके नही आत्म विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलंब;

तुम्हारा सहचर बन कर क्या न उऋण होऊँ मे बिना विलम्ब?

समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार;
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा ले , अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ तुम्हारे लिए खुला है पास।

बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

“और यह क्या तुम सुनते नही विधाता का मंगल वरदान-
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो" विश्व में गूँज रहा जय गान।

“डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव-असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटा कर आज;

पड़ा है बन मानव संपत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज।

चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावो का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटे सागर, बिखरे ग्रह-पुंज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानन्द;
आज से मानवता की कीर्ति अनिल, भू, जल में रहे न बंद।

जलधि के फूटे कितने उत्स द्वीप, कच्छप डूबे - उतरायँ;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ मूर्ति अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार;
हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ा मय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे है, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय!”

काम

“मधुमय वसंत जीवन वन के, बह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके से; रजनी के पिछले पहरों में।

क्या तुम्हें देख कर आते यों, मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थी!

जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने में लुक रहना!
तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी? सच कहना।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी, फलों के अंचल में;
अपना कलकंठ मिलाते थे झरनों के कोमल कल कल में।

निश्चिंत आह! वह था कितना उल्लास, काकली के स्वर में!
आनन्द प्रतिध्वनि गूँज रही जीवन दिगंत के अंबर में।

शिशु चित्रकार चंचलता में कितनी आशा चित्रित करते!
अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी जीवन की आँखों में भरते।

लतिका घूँघट से चितवन की वह कुसुम दुग्ध सी मधु धारा;
प्लावित करती मन अजिर रही, था तुच्छ विश्व वैभव सारा।

वे फूल और वह हँसी वह सौरभ, वह निश्वास घना;
वह कलरव, वह संगीत अरे वह कोलाहल एकांत बना।"

कहते कहते कुछ सोच रहे लेकर निश्वास निराशा की;
मनु अपने मन की बात, रुकी फिर भी न प्रगति अभिलाषा की।

“ओ नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना;
अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना।

चल-चक्र वरुण का ज्योति भरा व्याकुल तू क्यों देती फेरी?
तारों के फूल बिखरते हैं लुटती है असफलता तेरी।

नव नील कुंज हैं झीम रहे, कुसुमों की कथा न बंद हुई;

हैं अंतरिक्ष आमोद भरा हिम कणिका ही मकरंद हुई।

इस इंदीवर से गंध भरी बुनती जाती मधु की धारा;
मन मधुकर की अनुराग मयी बन रही मोहिनी सी कारा।

अणुओं को हैं विश्राम कहाँ यह कृति मय वेग भरा कितना;
अविराम नाचता कंपन हैं, उल्लास सजीव हुआ कितना।

उन नृत्य शिथिल निश्वासों की, कितनी है मोहमयी माया;
जिनको समीर छनता छनता बनता है प्राणों की छाया।

आकाश-रंध्र है पूरित से यह सृष्टि गहन सी होती है;
आलोक सभी मूर्छित सोते, यह आँख थकी सी रोती है।

सौंदर्य्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य है नाच रही;
मेरी आँखों को रोक वही आगे बढ़ने मे जाँच रही।

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सब क्या छाया उलझन हैं?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है?

मेरी अक्षयनिधि! तुम क्या हो, पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?
उलझन प्राणों के धागों की सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

माधवी निशा की अलसाई अलकों में लुकते तारा सी;
क्या हो सूने मरु-अंचल में अंतःसलिला की धारी सी।

श्रुतियों में चुपके चुपके से कोई मधु धारा घोल रहा;
इस नीरवता के परदे में जैसे कोई कुछ बोल रहा।

हे स्पर्श मलय के झिलमिल सा संज्ञा को और सुलाता हैं;
पुलकित हो आँखें बन्द किये तंद्रा को पास बुलाता है।

वीड़ा है यह चंचल कितनी विभ्रम से घूँघट खींच रही;
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से क्यों मेरी आँखें मींच रही।

उद्‌बुद्ध क्षितिज की श्याम छटा इस उदित शुक्र की छाया में;
ऊषा सा कौन रहस्य लिये सोती किरनों की काया में।

उठती है किरनों के ऊपर कोमल किसलय की छाजन सी;
स्वर का मधु निस्वन रंध्रों मे जैसे कुछ दूर बजे बंसी।

सब कहते हैं 'खोलो खोलो, छवि देखूँगा जीवन धन की';
आवरण स्वयं बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की।

चाँदनी सदृश खुल जाय कही अवगुंठन आज सँवरता सा;
जिसमें अनंत कल्लोल भरा लहरों मे मस्त विचरता सा-

अपना फेनिल फन पटक रहा, मणियों का जा लुटाता सा;
उन्निद्र दिखाई देता हो उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के;
आने दो कितनी आती हैं बाधायें दम संयम बन के।

नक्षत्रों, तुम क्या देखोगे इस ऊषा की लाली क्या है?
संकल्प भर रहा है उनमें संदेहों ही जाली क्या है?

कौशल यह कोमल कितना है सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या?
चेतना इन्द्रियों की मेरी मेरी ही हार बनेगी क्या?

“पीता हूँ, हाँ, मै पीता हूँ यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा;
मधु लहरों के टकराने से ध्वनि मे हैं क्या गुंजार भरा।

तारा बनकर यह बिखर रहा क्यो स्वप्नों का उन्माद अरे!
मादकता माती नींद लिये सोऊँ मन में अवसाद भरे।"

चेतना शिथिल सी होती है उन अंधकार की लहरों में;
मनु डूब चले धीरे-धीरे रजनी के पिछले पहरों में।

उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी स्मृतियों की संचित छाया से;
इस मन को है विश्राम कहाँ चंचल यह अपनी माया से।

जागरण लोक था भूल चला स्वप्नों का सुख संचार हुआ;
कौतुक सा बन मनु के मन का वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ।

था व्यक्ति सोचता आलस में चेतना सजग रहती दुहरी;
कानों के कान खोल कर के सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

“प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ;
आया फिर भी वह चला गया तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।

देवों की सृष्टि विलीन हुई अनुशीलन में अनुदिन मेरे;
मेरा अतिचार न बंद हुआ उन्मत्त रहा सबको घेरे।

मेरी उपासना करते वे मेरा संकेत विधान बना;
विस्तृत जो मोह रहा मेरा वह देव विलास वितान तना।

मै काम रहा सहचर उनका, उनके विनोद का साधन था;
हँसता था और हँसाता था उनका मैं कृतिमय जीवन था।

जो आकर्षण बन हँसती थी रति थी अनादि वासना वही;
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अंतर में उनकी चाह रही।

हम दोनो का अस्तित्व रहा उस आरम्भिक आवर्त्तन सा;
जिससे संसृति का बनता है आकार रूप के नर्त्तन सा।

उस प्रकृति लता के यौवन में उस पुष्पवती के माधव का;
मधु हास हुआ था वह पहला दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से मिलने को गले ललकते से;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव के विद्युत्कण मिले झलकते से।

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी संशिलष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था, मादक मरंद की वृष्टि रही।

भुज-लता पड़ी सरिताओं की शैलो के गले सनाथ हुए;
जलनिधि का अंचल व्यजन बना धरणी का, दो दो साथ हुए।

कोरक अंकुर सा जन्म रहा, हम दोनो साथी झूल चले;
उस नवल सर्ग के कानन मे मृदु मलयानिल से फूल चले।

हम भूख प्यास से जाग उठे, आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में;
रति-काम बने उस रचना में जो रही नित्य यौवन वय में।”

“सुरबालाओ की सखी रहीं उनकी हृत्तंत्री की लय थी;
रति, उनके मन को सुलझाती वह राग भरी थी, मधुमय थी।

मैं तृष्णा था विकसित करता वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
आनन्द-समन्वय होता था हम ले चलते पथ पर उनको।

वे अमर रहे न विनोद रहा, चेतनता रही, अनंग हुआ;
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये संचित का सरल प्रसंग हुआ।”

“यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म रंगस्थल है;
है परंपरा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है।

वे कितने ऐसे होते है जो केवल साधन बनते है;
आरम्भ और परिणामों के सम्बन्ध सूत्र से बुनते है।

ऊषा ही सजल गुलाली जो घुलती है नीले अंबर में;
वह क्या है? क्या तुम देख रहे वर्णों के मेघाडंबर में?

अंतर है दिन औ रजनी का यह साधक कर्म बिखरता है;
माया के नीले अंचल में आलोक बिन्दु सा झरता है।"

"आरंभिक वात्या उद्‌गम मै अब प्रगति बन रहा संसृति का;
मानव की शीतल छाया में ऋण शोध करूँगा निज कृति का।

दोनो का समुचित प्रतिवर्त्तन जीवन में शुद्ध विकास हुआ;
प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई जल विप्लव में पड़ ह्रास हुआ।

यह लीला जिसका विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला;
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।

हम दोनो की संतान वही, कितनी सुन्दर भोली-भाली;
रंगों ने जिनसे खेला हो ऐसे फूलों की वह डाली।

जड़-चेतनता की गाँठ वही सुलझन है भूल-सुधारों की;
वह शीतलता है शान्तिमयी जीवन के उष्ण विचारो की।

उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो" कहती कहती;
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा जैसे मुरली चुप हो रहती।

मनु आँख खोलकर पूछ रहे: – "पथ कौन वहाँ पहुँचाता हैं?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो कैसे कोई नर पाता है?"

पर कौन वहाँ उत्तर देता? वह स्वप्न अनोखा भंग हुआ;
देखा तो सुन्दर प्राची मे अरूणोदय का रस रंग हुआ।

उस लता कुंज की झिल-मिल से हेमाभरश्मि थी खेल रही;
देवी के सोम सुधा रस की मनु के हाथों में बेल रही।

वासना

चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रांत;
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रांत।
एक गृह-पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार;
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार!

एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल;
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम;
दूसरा रंजित किरण से श्री कलित घनश्याम!

नदी तट के क्षितिज में नव जलद, सायंकाल;
खेलता ज्यों दो बिजलियों से मधुरिमा जाल।
लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश;
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस!

था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव;

थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सतत अटकाव।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल;
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष;
गूढ़ अंतर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अंत का आलोक;
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक।

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय;
घन पटल में डूबता था किरण का समुदाय।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छंद;
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बंद।

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन;
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभव हीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक;

शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक।

मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान;
काम के संदेश से ही भर रहे थे कान।
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण अधिकार;
शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार।

नई इच्छा खींच लाती, अतिथि का संकेत-
चल रहा था सरल शासन युक्त सुरुचि समेत।
देखते थे अग्नि-शाला से कुतूहल युक्त;
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन-मुक्त।

एक माया! आ रहा था पशु अतिथि के साथ!

हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ!
चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग;
स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह संग।

कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल;
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि जाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि बदन निहार;
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार;

और वह पुचकारने का स्नेह शवलित चाव;
मंजु ममता से मिला बन हृदय का सद्भाव।
देखते ही देखते दोनो पहुँच कर पास;
लगे करने सरल शोभन मधुर मुग्ध विलास।

वह विराग-विभूति ईर्षा-पवन से हो व्यस्त;
बिखरती थी; और खुलते ज्वलन कण जो अस्त।
किन्तु यह क्या? एक तीखी घूँट, हिचकी आह!
कौन देता है हृदय में वेदना मय डाह?

“आह यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह!
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह।
मै? कहाँ मैं? ले लिया करते सभी निज भाग;
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग!

अरी नीच कृतघ्नते! पिच्छल शिला संलग्न;
मलिन काई सी करेगी हृदय कितने भग्न?
हृदय का राजस्व अपहृत, कर अधम अपराध;
दस्यु मुझसे चाहते है सुख सदा निर्बाध।

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान;
सभी मेरी है, सभी करती रहें प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित वाडव-वह्नि नित्य अशांत;
सिन्धु लहरों सा करें शीतल मुझे सब शांत।"

आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार;
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।
कहा "क्यों तुम अभी बैठे ही रहे धर ध्यान;
देखती है आँख कुछ, सुनते रहे कुछ कान-

मन कहीं, यह क्या हुआ है? आज कैसा रंग?”
नत हुआ फण दृप्त ईर्षा का, विलीन उमंग।
और सहलाने लगा कर-कमल कोमल कांत;
देख कर वह रूप सुषमा मनु हुए कुछ शांत।

कहा “अतिथि! कहाँ रहे तुम किधर थे अज्ञात;
और यह सहचर तुम्हारा कर रहा ज्यों बात-
किसी सुलभ भविष्य की, क्यों आज अधिक अधीर?
मिल रहा तुमसे चिरंतन स्नेह सा गंभीर?

कौन हो तुम खींचतें यों मुझे अपनी ओर;
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर!

ज्योत्स्ना निर्झर! ठहरती ही नहीं यह आँख;
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गई सी साख।

कौन वरुण रहस्य हैं तुममें छिपा छविमान?
लता वीरुध दिया करते जिसे छाया दान।
पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव छंद;
एक आलिंगन बुलाता सभी को सानंद।

राशि राशि बिखर पड़ा है शांत संचित प्यार;
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार।
देखता हूँ चकित जैसे ललित लतिका-लास;
अरुण घन की सजल छाया में दिनांत निवास –

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास;
मदिर माधव यामिनी का धीर पद विन्यास।
आह यह जो रहा सूना पड़ा कोना दीन;
ध्वस्त मंदिर का, बसाता जिसे कोई भी न –

उसी में विश्राम माया का अचल आवास;

अरे यह सुख नींद कैसी, हो रहा हिम हास!
वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम!
हृदय की सौंदर्य प्रतिमा! कौन तुम छवि धाम?

कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज;
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मंदिर सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट;
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट?”

कहा हँस कर “अतिथि हूँ मैं, और परिचय व्यर्थ;
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ!
चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज-
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज!

कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक;
इसी विभृत अनंत में बसने लगा अब लोक।
इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान;

देखकर सब भूल जायें दुःख के अनुमान।

देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त;
लौटना अंतिम किरण का और होना अस्त।
चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज;
प्रकृति का यह स्वप्न शासन, साधना का राज।"

सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग;
राग रंजित चंद्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ हाथ;
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह संबल साथ।

देवदारु निकुञ्ज गह्वर सब सुधा में स्नात;
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध;
पवन के घन घिरे पड़ते थे मधु अंध।

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत;
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रांत;
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत।

कहा मनु ने “तुम्हें देखा अतिथि! कितनी बार;
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार!
पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत;
गूँजते जब मदिर घन में वासना के गीत।

भूल कर जिस दृश्य को मैं बना आज अचेत;
वही कुछ सव्रीड़, सस्मित कर रहा संकेत।
"मैं तुम्हारा हो रहा हूँ" यही सुदृढ़ विचार;
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।

मधु बरसती विधु किरन है काँपती सुकुमार?
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु-भार।

तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों है प्राण?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण?

आज क्यों संदेह होता रूठने का व्यर्थ;
क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ!
धमनियों में वेदना सा रक्त का संचार;
हृदय में है काँपती धड़कन, लिये लघु भार!

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द;
मानती सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द!
अग्नि कीट समान जलती है भरी उत्साह;
और जीवित है, न छाले है न उसमें दाह!

कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार;
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार!
हृदय जिसकी कांत छाया में लिये निश्वास;
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश?”

श्याम नभ में मधु किरन सा फिर वही मृदु हास;
सिंधु की हिलकोर दक्षिण का समीर विलास!
कुंज में गुंजरित कोई मुकुल सा अव्यक्त;
लगा कहने अतिथि, मनु थे सुन रहे अनुरक्त-

"यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद;
सखे! तुमुल तरंग सा उच्छ्वासमय संवाद।
मत कहो, पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन;
विमल राका मूर्त्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन!

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील;
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मंगल खील।
राशि-राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रांत;
बिखरती है, ताम रस सुन्दर चरण के प्रांत।”

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप;
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।

बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त;
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमंत।

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रांत;
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत।
बात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश;
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।

कर पकड़ उन्मत से हो लगे कहने, “आज;
देखता हूँ दूसरा कुछ, मधुरिमामय साज!
वही छवि! हाँ वही जैसे! किन्तु क्या यह भूल?
रही विस्मृति सिंधु में स्मृति नाव विकल अकूल!

जन्म संगिनि एक थी जो काम बाला, नाम-
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम-

सतत मिलता था उसी से, अरे जिसके फूल;
दिया करते अर्थ में मकरंद, सुषमा मूल!

प्रलय में बच रहे हम फिर मिलन मोद;
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद!
ज्योत्स्ना सी निकल आई! पार कर नीहार;
प्रणय विधु है खड़ा नभ में लिये तारक हार!

कुटिल कुंतल से बनाती काल माया जाल;
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल।
नींद सी दुर्भेद्य तम की, फेंकती यह दृष्टि;
स्वप्न सी है बिखर जाती हँसी की चल सृष्टि।

हुई केंद्रीभूत सी है साधना की स्फूर्ति;
दृढ़ सकल सुकुमारता में रम्य नारी मूर्ति।
दिवाकर दिन या परिश्रम का विकल विश्रांत;
मै पुरुष शिशु सा भटकता आज तक था भ्रांत।

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कांत;

विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शांत।
पददलित सी थकी व्रज्या ज्यों सदा आक्रांत;
शस्य श्यामल भूमि में होती समाप्त अशांत।

आह! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम;
पा रहा हूँ आज देकर तुम्हीं से निज काम।
आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान;
विश्व रानी! सुन्दर नारी! जगत की शान!"

धूम लतिका सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन;
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार;
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार।

और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव;
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
मधुर व्रीड़ा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास;

हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक;
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल;
खिला पुलक कदंब सा था भरा गदगद बोल।

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे दैव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने मे विकल हों प्रान?"

लज्जा

"कोमल किसलय के अंचल मे नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी;
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों;
सुरभित लहरों की छाया मे बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।

वैसी ही माया मे लिपटी अधरों पर उँगली धरे हुए;
माधव के सरल कुतूहल का आँखो मे पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती?
कोमल बाहें फैलाये सी आलिंगन का जादू पढ़ती!

किन इन्द्रजाल के फूलो से लेकर सुहाग कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधु धार ढरे?

पुलकित कदंब की माला सी पहनी देती हो अन्तर में;
झुक जाती हैं मन की डाली अपनी फलभरता के डर में।

वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरनों से बुना हुआ;
यह अंचल कितना हलका सा कितने सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते है कोमलता मे बल खाती हूँ;

मै सिमिट रही सी अपने मे परिहास गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी नयनों मे भर कर बाँकपना;
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो वह बनता जाता हैं सपना।

मेरे सपनों मे कलरव सा संसार आँख जब खोल रहा;
अनुराग समीरों पर तिरता था इतराता सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को;
जीवन भर बल वैभव से सत्कृत करती दूरागत को।

किरनों का रज्जु समेट लिया जिसका अवलंबन ले चढ़ती;
रस के निर्झर से धँस कर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने मे हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती है।

संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौंहों की काली रेखा सी भ्रम मे पड़ी रही।

तुम कौन? हृदय की परवशता? सारी स्वतंत्रता छीन रही;
स्वच्छंद सुमन जो खिले रहे जीवन वन से हो बीन रही।”

संध्या की लाली मे हँसती, उसका ही आश्रय लेती सी;
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती सी।

“इतना न चमत्कृत हो बाले! अपने मन का उपकार करो;
मै एक पकड़ हूँ जो कहती ठहरो कुछ सोच विचार करो।

अंबर-चुम्बी हिम शृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये।

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें निखरी हो ऊषा की लाली;
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसी हो जिसमें हरियाली।

हो नयनों का कल्याण बना आनन्द सुमन सा विकसा हो;
वासंती के वन-वैभव में जिसका पंचम स्वर पिक सा हो।

जो गूँज उठे फिर नस नस में मूर्च्छना समान मचलता सा;
आँखों के साँचे में आकर रमणीय रूप बन ढलता सा।

नयनों की नीलम की घाटी जिस रस घन से छा जाती हो;
वह क्रोध कि जिससे अंतर की शीतलता ठंढक पाती हो।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का गोधूली की सी ममता हो;
जागरण प्रात सा हँसता हो जिसमें मध्याह्न निखरता हो।

हो चकित निकल आई सहसा जो अपना प्राची के घर से;
उस नवल चंद्रिका से बिछले जो मानस की लहरों पर से।

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ बिखरे जिसके अभिनन्दन में;
मकरंद मिलाती हो अपना स्वागत के कुंकुम चंदन में।

कोमल किसलय मर्मर रव से जिसका जय घोष सुनाते हो;
जिसमें दुख सुख मिलकर मन के उत्सव आनंद मनाते हो।

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब करते है;
जिसमें अनंत अभिलाषा के सपने सब जगते रहते है।

मै उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हूँ सिखलाती;
ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती।

मै देव सृष्टि की रति रानी निज पंचाबण से वंचित हो;
बन आवर्जना मूर्ति दीना अपनी अतृप्ति सी संचित हो।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में अपनी अतीत असफलता सी;
लीला विलास की खेद भरी अवसाद मयी श्रम दलिता सी।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मै शालीनता सिखाती हूँ;
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलों में आँखो में अंजन सी लगती;
कुंचित अलकों सी घुँघराली मन की मरोर बन कर जगती।

चंचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी मेरे जीवन का पथ क्या हैं;
इस निविड़ निशा में संसृति की आलोकमयी रेखा क्या है?

यह आज समझ तो पायी हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सब से हारी हूँ।

पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है!
घनश्याम खंड सी आँखों में क्यों सहसा जल भर आता है!

सर्वस्व समर्पण करने की विश्वास महा तरु छाया में;
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों ममता जगती है माया में?

छाया पथ में तारक द्युति सी झिलमिल करने की मधु लीला;
अभिनय करती क्यों इस मन में कोमल निरीहता श्रम शीला?

निस्संबल होकर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में;
चाहती नहीं जागरण कभी सपने की इस सुधराई में।

नारी जीवन का चित्र यही क्या? विकल रंग भर देती हो;

अस्फुट रेखा की सीमा में; आकर कला को देती हो।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ पर सोच विचार न कर सकती;
पगली सी कोई अन्तर में बैठी जैसे अनुदिन बकती।

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ;
भुज लता फँसा कर नर तरु से झूले सी झोंके खाती हूँ।

इस अर्पण में कुछ और नही केवल उत्सर्ग छलकता है;
मैं दे दूँ और फिर कुछ न लूँ इतना ही सरल झलकता है।"

"क्या कहती हो ठहरो नारी! संकल्प अश्रु जल से अपने;
तुम दान कर चुकीं पहले ही जीवन के सोने से सपने।

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा;

संघर्ष सदा उर अंतर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा;
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।"

कर्म

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी सोम लता तब मनु को;
चढ़ी शिंजिनी सी, खींचा फिर उसने जीवन-धनु को।

हुए अग्रसर उसी मार्ग में छुटे तीर से फिर वे;
यज्ञ-यज्ञ की कटु पुकार से रह न सके अब थिर वे।

भरा काम में कथन काम का मन में नव अभिलाषा;
लगे सोचने मनु अतिरंजित उमड़ रही थी आशा।

ललक रही थी ललित लालसा सोम-पान की प्यासी;

जीवन के उस दीन विभव में जैसी बनी उदासी।

जीवन की अविराम साधना भर उत्साह खड़ी थी;
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी गहरे लौट पड़ी थी।

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर काम प्ररेणा मिल के;
भ्रांत अर्थ बन आगे आये बने ताड़ थे तिल के।

बन जाता सिद्धांत प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है;
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले सदा भरा करती है।

मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना;
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।

पवन वही हिलकोर उठाता वही तरलता जल में;
वही प्रतिध्वनि अंतरतम की था जाती नभ तल में।

सदा समर्थन करती उसकी तर्कशास्त्र की पीढ़ी;
"ठीक यही है सत्य! यही है उन्नति सुख की सीढ़ी।

और सत्य! यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है;
मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ हैं।

सब बातों में खोज तुम्हारी रट सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के बनता 'छुई मुई' है।

असुर पुरोहित उस विप्लव से बच कर भटक रहे थे;
वे किलात आकुलि थे जिनने कष्ट अनेक सहे थे।

देख देख कर मनु का पशु जो व्याकुल चंचल रहती;
उनकी आमिष लोलुप रसना आँखों से कुछ कहती।

'क्यों किलात! खाते-खाते तृण और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मैं देखूँ जीवित पशु घूँट लहू का पीऊँ!

क्या कोई इसका उपाय ही नही कि इसको खाऊँ?
बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ?'

आकुलि ने तब कहा 'देखते नही, साथ में उसके;
एक मृदुलता की, ममता की छाया रहती हँस के।

तो भी चलो आज कुछ करके तब मैं स्वस्थ रहूँगा;
या जो भी आवेगा सुख दुख उनको सहज सहूँगा।'

यों ही दोनो कर विचार उस कुंज द्वार पर आये;
यहाँ सोचते थे मनु बैठे मन से ध्यान लगाये।

“कर्म यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।

किन्तु बनेगा कौन पुरोहित? अब यह प्रश्न नया है;
किस विधान से करूँ यज्ञ यह पथ किस ओर गया है!

श्रद्धा! पुण्य-प्राप्य है मेरी वह अनंत अभिलाषा;
फिर इस निर्जन में खोले अब किसको मेरी आशा।"

कहा असुर मित्रों ने अपना मुख गंभीर बनाये;
“जिनके लिए यज्ञ होगा हम उनके भेजे आये।

यजन करोगे क्या तुम? फिर यह किसको खोज रहे हो;
अरे पुरोहित की आशा में कितने कष्ट सहे हो।

इस जगती के प्रतिनिधि जिनसे प्रकट निशीथ सबेरा;
‘मित्र वरुण’ जिनकी छाया है आलोक अँधेरा।

वे ही पथ दर्शक हो सब विधि पूरी होगी मेरी;
चलो आज फिर से वेदी पर हो ज्वाला की फेरी।"

“परंपरागत कर्मों की वे कितनी सुन्दर लड़ियाँ;
जीवन साधन की उलझी है जिसमे सुख की घड़ियाँ;

जिनमें है प्ररेणा मयी सी संचित कितनी कृतियाँ;
पुलक भरी सुख देने वाली बन कर मादक स्मृतियाँ।

साधारण से कुछ अतिरंजित गति में मधुर त्वस सी;
उत्सव लीला, निर्जनता की जिससे कटे उदासी।

एक विशेष प्रकार कुतूहल होगा श्रद्धा को भी।"
प्रसन्नता से नाच उठा मन नूतनता का लोभी।

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला;
दारुण दृश्य! रुचिर के छीटें! अस्थि खंड की माला!

वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी;
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी।

सोम पात्र भी भरा, धरा था पुरोडाश भी आगे;
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब सुप्त भाव सब जागे।

"जिसका था उल्लास निखरना वही अलग जा बैठी;

यह सब फिर क्यो? दृप्त वासना लगी गरजने ऐंठी।

जिसमें जीवन का संचित सुख सुन्दर मूर्त्त बना है!
हृदय खोल कर कैसे उसको कहूँ कि वह अपना है?

वही प्रसन्नता नही? रहस्य कुछ इसमें सुनिहित होगा;
आज वही पशु मर कर भी क्या सुख में बाधक होगा?

श्रद्धा रूठ गयी तो फिर क्यो उसे मनाना होगा;
या वह स्वयं मान जायेगी किस पथ जाना होगा?"

पुरोडाश के साथ सोम का पान लगे मनु करने;
लगे प्राण के रिक्त अंश को मादकता से भरने।

सन्ध्या की धूसर छाया मे शैल शृंग की रेखा;
अंकित थी दिगंत अंबर में लिये मलिन शशि-लेखा।

श्रद्धा अपनी शयन गुहा मे दुखी लौट कर आयी;
एक विरक्ति बोझ सी ढोती मन ही मन बिलखायी।

सूखी काष्ठ सन्धि में पतली अनल शिखा जलती थी;
उस धुँधले गृह में आभा से तामस को छलती थी।

किन्तु कभी बुझ जाती पाकर शीत पवन के झोंके;
कभी उसी से जल उठती तब कौन उसे फिर रोके।

कामायनी पड़ी थी अपना कोमल चर्म बिछा के;
श्रम मानो विश्राम कर रहा मृदु आलस को पाके।

धीरे धीरे जगत चल रहा अपने उस ऋतु पथ में;
धीरे धीरे खिलते तारे मृग जुतते विधु रथ में।

अंचल लटकाती निशीथिनी अपना ज्योत्स्ना-शाली;
जिसकी छाया में सुख पावे सृष्टि वेदना वाली।

उच्च शैल शिखरों पर हँसती प्रकृति चंचला बाला;
धवल हँसी बिखराती अपनी फैला मधुर उजाला।

जीवन की उद्दाम लालसा उलझी जिससे व्रीड़ा;
एक तीव्र उन्माद और मन मथने वाली पीड़ा;

मधुर विरक्ति भरी आकुलता, घिरती हृदय गगन में;
अंतर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन में।

वे असहाय नयन थे खुलते – मुँदते भीषणता में;
आज स्नेह का पात्र खड़ा था, स्पष्ट कुटिल कटुता में।

"कितना दुख जिसे मैं चाहूँ वह कुछ और बना हो;
मेरा मानस-चित्र खींचना सुन्दर सा सपना हो।

जाग उठी है दारुण ज्वाला इस अनंत मधुवन में;
कैसे बुझे कौन कह देगा इस नीरव निर्जन में?

यह अनंत अवकाश नीड़ सा जिसका व्यथित बसेरा;
वही वेदना सजग पलक में भर कर अलस सबेरा।

काँप रहे है चरण पवन के, विस्तृत नीरवता सी;
घुली जा रही है दिशि दिशि की नभ मे मलिन उदासी।

अंतरतम की प्यास, विकलता से लिपटी बढती है;
युग युग की असफलता का अवलंबन ले चढ़ती है।

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है अपने ताप विषम से;
फैल रही है घनी नीलिमा अंतर्दाह परम से।

उद्वेलित है उदधि, लहरियाँ लोट रही व्याकुल सी;
चक्रवाल की धुँधली रेखा मानो जाती झुलसी।

सघन धूम कुण्डल में कैसी नाच रही यह ज्वाला!
तिमिर फणी पहने है मानो अपने मणि का माला!

जगतीतल का सारा क्रंदन यह विषमयी विषमता;
चुभने वाला अंतरंग छल अति दारुण निर्ममता।

जीवन के वे निष्ठुर दंशन जिनकी आतुर पीड़ा;
कलुष चक्र सी नाच रही है बन आँखो की क्रीड़ा।

स्खलन चेतना के कौशल का भूल जिसे कहते है;

एक बिन्दु, जिसमें विषाद के नद उमड़े रहते है।

आह वही अपराध, जगत की दुर्बलता की माया;
धरणी की वर्जित मादकता, संचित तम की छाया।

नील गरल से भरा हुआ यह चंद्र कपाल लिये हो;
इन्ही निमीलित ताराओं में कितनी शांति पिये हो।

अखिल विश्व का विष पीते हो सृष्टि जियेगी फिर से;
कहो अमर शीतलता इतनी आती तुम्हें किधर से

अचल अनन्त नील लहरों पर बैठे आसन मारे;
देव! कौन तुम झरते तन से श्रमकण से ये तारे!

इन चरणों मे कर्म-कुसुम की अंजलि वे दे सकते;
चले आ रहे छायापथ में लोक पथिक जो थकते?

किन्तु कहाँ वह दुर्लभ उनको स्वीकृति मिली तुम्हारी!
लौटाये जाते वे असफल जैसे नित्य भिखारी।

प्रखर विनाशशील नर्त्तन मे विपुल विश्व की माया;
क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना बन कर उसकी काया।

सदा पूर्णता पाने को सब भूल किया करते क्या?
जीवन में यौवन लाने को जी जी कर मरते क्या?

यह व्यापार महागतिशाली कहीं नही बसता क्या?
क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल चुपके से हँसता क्या?

यह विराग सम्बन्ध हृदय का कैसी यह मानवता!
प्राणी को प्राणी के प्रति बस बची रही निर्ममता!

जीवन का सन्तोष अन्य का रोदन बन हँसता क्यो?
एक एक विश्राम प्रगति को परिकर सा कसता क्यों?

दुर्व्यवहार एक का कैसे अन्य भूल जावेगा;
कौन उपाय! गरल को कैसे अमृत बना पावेगा!”

जाग उठी थी तरल वासना मिली रही मादकता;
मनु को कौन वहाँ आने से भला रोक अब सकता!

खुले मसृण भुज-मूलों से वह आमंत्रण था मिलता;
उन्नत वक्षों में आलिंगन सुख लहरों सा तिरता।

नीचा हो उठता जो धीमे धीमे निश्वासों में;
जीवन का ज्यो ज्वार उठ रहा हिम के हासों मे।

जागृत था सौंदर्य्य यदपि वह सोती थी सुकुमारी;
रूप चंद्रिका मे उज्ज्वल थी आज निशा सी नारी।

वे मांसल परमाणु किरण से विद्युत थे बिखराते;
अलकों की डोरी में जीवन कण कण उलझे जाते।

विगत विचारो के श्रम-सीकर बने हुए थे मोती;
मुख मंडल पर करुण कल्पना उनको रही पिरोती।

छूते थे मनु और कंटकित होती थी वह बेली;
स्वस्थ व्यथा की लहरों सी जो अंगलता थी फैली।

वह पागल सुख इस जगती का आज विराट बना था;
अंधकार मिश्रित प्रकाश का एक वितान तना था।

कामायनी जगी थी कुछ कुछ खोकर सब चेतनता;
मनोभाव आकार स्वयं ही रहा बिगड़ता बनता।

जिसके हृदय सहा समीप है वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही जिससे कुछ नाता है।

प्रिय को ठुकरा कर भी मन की माया उलझा लेती;
प्रणय शिला प्रत्यावर्त्तन में उसको लौटा देती।

जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली;
श्रद्धा की , धीरे से मनु ने अपने कर में ले ली।

अनुनय वाणी में, आँखों मे उपालंभ की छाया;
कहने लगे "अरे यह कैसी मानवती का माया!

स्वर्ग बनाया है जो मैने उसे न विफल बनाओ;

अरी अप्सरे! उस अतीत के नूतन गान सुनाओ।

इस निर्जन में ज्योत्स्ना पुलकित विधुयुत नभ के नीचे;
केवल हम तुम और कौन है? रहो न आँखें मीचे।

आकर्षण से भरा विश्व यह केवल भोग्य हमारा;
जीवन के दोनो कूलों में बहे वासना धारा।

श्रम की, इस अभाव की जगती उसकी सब आकुलता;
जिस क्षण भूल सकें हम अपनी यह भीषण चेतनता।

वही स्वर्ग की बन अनंतता मुसक्याता रहता है;
दो बूँदों में जीवन का रस लो बरबस बहता है।

देवो को अर्पित मधु मिश्रित सोम अधर से छू लो;
मादकता दोला पर प्रेयसी! आओ मिलकर झूलो।"

श्रद्धा जाग रही थी तब भी छाई थी मादकता;

मधुर भाव उसके तन मन में अपना ही रस छकता।

बोली एक सहज मुद्रा से "यह तुम क्या कहते हो;
आज अभी तो किसी भाव की धारा में बहते हो।

कल ही यदि परिवर्तन होगा तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन नूतन यज्ञ रचेगा!

और किसी की फिर बलि होगी किसी देव के नाते;
कितना धोखा! उससे तो हम अपनी ही सुख पाते।

ये प्राणी जो बचे हुए है इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नही क्या वे सब ही है फीके!

मनु! क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो हंत! बची क्या शवता!"

"तुच्छ नही है अपना सुख भी श्रद्धे! वह भी कुछ है;

दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है।

इंद्रिय की अभिलाषा जितनी सतत सफलता पावे;
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि मधुर-मधुर कुछ गावे।

रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में मृदु मुसक्यान खिले तो;
आशाओं पर श्वास निछावर होकर गले मिले तो।

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख मुकुर बनी रहती हो;
वह अपना सुख स्वर्ग नही है! यह तुम क्या कहती हो?

जिसे खोजता फिरता मै इस हिमगिरि के अंचल में;
वही अभाव स्वर्ग बन हँसता इस जीवन चंचल में।

वर्त्तमान जीवन के सुख से योग जहाँ होता है;
छली अदृष्ट अभाव बना क्यों वहीं प्रकट होता है।

किन्तु सकल कृतियों की अपनी सीमा है हम ही तो;
पूरी हो कामना हमारी, विफल प्रयास नही तो!”

एक सचेतनता लाती सी सविनय श्रद्धा बोली,
“बचा जान यह भाव, सृष्टि ने फिर आँखें खोली!

भेद बुद्धि निर्मम ममता की समझ, बची ही होगी;
प्रलय पयोनिधि की लहरें भी लौट गयी ही होगी।

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा!

औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।

रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह यज्ञ-पुरुष का जो है;
संसृति सेवा भाग हमारा उसे विकसने को है।

सुख को सीमित कर अपने मे केवल दुख छोड़ोगे;
इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरंद बिन्दु से खुल कर तो ये भर ले।

सूखें, झड़ें और तब कुचले सौरभ को पाओगे;
फिर आमोद कहाँ से मधुमय वसुधा पर लाओगे!

सुख अपने संतोष के लिए संग्रह मूल नही है;
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखे अन्य, वही है।

निर्जन में क्या एक अकेले तुम्हें प्रमाद मिलेगा?
नही इसी से अन्य हृदय का कोई सुमन खिलेगा।

सुख समीर पाकर, चाहे हो वह एकांत तुम्हारा;
बढ़ती है सीमा संसृति की बन मानवता धारा।”

हृदय हो रहा था उत्तेजित बातें कहते कहते;
श्रद्धा के थे अधर सूखते मन की ज्वाला सहते।

उधर सोम का पात्र लिये मनु समय देखकर बोले –
"श्रद्धे! पी लो इसे बुद्धि के बन्धन को जो खोले।

वही करूँगा जो कहती हो सत्य, अकेला सुख क्या!"
यह मनुहार! रुकेगा प्याला पीने से फिर मुख क्या?

आँखें प्रिय आँखों में, डूबे अरुण अधर थे रस में;
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी चेतनता नस नस में।

छल वाणी की वह प्रवंचना हृदयों की शिशुता को;
खेल दिखाती, भुलवाती जो उस निर्मल विभुता को।

जीवन का उद्देश्य लक्ष्य की प्रगति दिशा को पल मे;
अपने एक मधुर इंगित से बदल सके जो छल में।

वही शक्ति अवलंब मनोहर निज मनु को थी देती;
जो अपने अभिनय से मन को सुख में उलझा लेती।

“श्रद्धे, होगी चन्द्रशालिनी यह भव रजनी भीमा;

तुम बन जाओ इस जीवन के मेरे सुख की सीमा।

लज्ज्ञा का आवरण प्राण को ढँक लेता है तम से;

उसे अकिंचन कर देता है अलगाता ‘हम तुम’ से।

कुचल उठा आनन्द, यही है बाधा, दूर हटाओ;

अपने ही अनुकूल सुखो को मिलने दो मिल जाओ।"

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिसमें;

शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्ति के मिस से।

दो काठों की संधि बीच उस निभृत गुफा में अपने;

अग्नि शिखा बुझ गयी, जागने पर जैसे सुख सपने।

ईर्ष्या

पल भर की उस चंचलता ने खो दिया हृदय का स्वाधिकार!
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा फैलाती निष्फल अंधकार!

मनु को अब मृगया छोड़ नही रह गया और था अधिक काम;
लग गया रक्त था उस मुख में हिंसा-सुख लाली से ललाम।

हिंसा ही नही और भी कुछ वह खोज रहा था मन अधीर;
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा जो बढ़ती हो अवसाद चीर।

जो कुछ मनु के करतलगत था उसमें न रहा कुछ भी नवीन;
श्रद्धा का सरल विनोद नही रुचता अब था बन रहा दीन।

उठती अंतस्तल से सदैव दुर्ललित लालसा जो कि कांत;
वह इन्द्रचाप सी झिलमिल हो दब जाती अपने आप शांत।

“निज उद्गम का मुख बंद किये कब तक सोयेंगे अलस प्राण;
जीवन की चिर चंचल पुकार रोये कब तक, है कहाँ त्राण!

श्रद्धा का प्रणय और उसकी आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति;
जिसमें व्याकुल आलिंगन का अस्तित्व न तो कुशल सूक्ति।

भावनामयी वह स्फूर्ति नही नव नव स्मित रेखा में विलीन;
अनुरोध न तो उल्लास, नही कुसुमोद्गम सा कुछ भी नवीन!

आती है वाणी में न कभी वह चाव भरी लीला हिलोर,
जिसमें नूतनता नृत्यमयी इठलाती हो चंचल मरोर।

जब देखो बैठी हुई वहीं शालियाँ बीन कर नहीं श्रांत!
या अन्न इकट्ठे करती है होती न तनिक सी कभी क्लांत।

बीजों का संग्रह और उधर चलती है तकली भरी गीत;
सब कुछ लेकर बैठी है वह मेरा अस्तित्व हुआ अतीत!”

लौटे थे मृगया से थक कर दिखलाई पड़ता गुफा द्वार;
पर और न आगे बढ़ने की इच्छा होती, करते विचार!

मृग डाल दिया, फिर धनु को भी मनु बैठ गये शिथिलित शरीर;
बिखरे थे सब उपकरण वहीं आयुध, प्रत्यंचा, श्रृंग, तीर।

“पश्चिम की रागमयी संध्या अब काली है हो चली, किन्तु;
अब तक आये न अहेरी वे क्या दूर ले गया चपल जंतु!”

यों सोच रही मन में अपने हाथों मे तकली रही घूम;
श्रद्धा कुछ कुछ अनमनी चली अलकें लेती थी गुल्फ चूम।

केतकी गर्भ सा पीला मुँह आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी कंपित लतिका सी लिये देह!

मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव पट्टिका बनाती रुचिर साज।

सोने की सिकता में मानो कालिंदी बहती भर उसास;
स्वर्गंगा में इंदीवर की या एक पंक्ति कर रही हास!

कटि में लिपटा था नवल बसन वैसा ही हलका बुना नील;
दुर्भर थी गर्भ मधुर पीड़ा झेलती जिसे जननी सलील।

श्रम बिंदु बना सा झलक रहा भावी जननी का सरस गर्व;
बन कुसुम बिखरते थे भू पर आया समीप था महा पर्व।

मनु ने देखा जब श्रद्धा का वह सहज खेद से भरा रूप;
अपनी इच्छा का दृढ विरोध जिसमें वे भाव नही अनूप।

वे कुछ भी बोले नहीं; रहे चुपचाप देखते साधिकार;
श्रद्धा कुछ कुछ मुस्करा उठी ज्यों जान गई उनका विचार।

'दिन भर थे कहाँ भटकते तुम' बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह;
"यह हिंसा इतनी है प्यारी जो भुलवाती है देह-गेह!

मैं यहाँ अकेली देख रही पथ, सुनती सी पद ध्वनि नितांत;
कानन में जब तुम दौड़ रहे मृग के पीछे बन कर अशांत!

ढल गया दिवस पीला-पीला तुम रक्तारुण बन रहे घूम;
देखो नीड़ो में विहग युगल अपनी शिशुओं को रहे चूम!

उनके घर में कोलाहल है मेरा सूना है गुफा द्वार!
तुमको क्यो ऐसी कमी रही जिसके हित जाते अन्य द्वार?”

“श्रद्धे! तुमको कुछ कमी नहीं पर मैं तो देख रहा अभाव;
भूली सी कोई मधुर वस्तु जैसे कर देती विकल घाव।

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने अवरुद्ध श्याम लेगा निरीह!
गति हीन पंगु सा पड़ा-पड़ा ढ़ह कर जैसे बन रहा डीह।

जब जड़ बंधन सा एक मोह कसता प्राणों का मृदु शरीर;
आकुलता और जकड़ने की तब ग्रंथि तोड़ती हो अधीर।

हँस कर बोले, बोलते हुए निकले मधु निर्झर ललित गान;
गानों में हो उल्लास भरा झूमें जिसमें बन मधुर प्रान।

वह आकुलता अब कहाँ रही जिसमें सब कुछ ही जाय भूल;
आशा के कोमल तंतु सदृश तुम तकली में हो रही झूल।

यह क्यों क्या मिलते नहीं तुम्हें शावक के सुन्दर मृदुल चर्म?
तुम बीज बीनती क्यों? मेरा मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।

तिस पर यह पीलापन कैसा यह क्यो बुनने का श्रम सखेद?
यह किसके लिए बताओ तो क्या इसमें है छिप रहा भेद?"

“अपनी रक्षा करने में जो चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं हिंसक से रक्षा करें शस्त्र।

पर जो निरीह जीकर भी कुछ उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन इसका मै समझ सकी न अर्थ!

चमड़े उनके आवरण रहे ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बन कर हम अमृत दुहें, वे दुग्ध धाम।

वे द्रोह न करने के स्थल है जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे है तो भव जलनिधि में बने सेतु।”

"मै यह तो मान नही सकता सुख सहज लब्ध यों छूट जायँ;
जीवन का जो संघर्ष चले वह विफल रहे हम छले जायँ।

काली आँखों की तारा में, मैं देखूँ अपना चित्र धन्य;
मेरा मानस का मुकुर रहे, प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य।

श्रद्धे! यह नव संकल्प नही – चलने का लघु जीवन अमोल;
मैं उसको निश्चय भोग चलूँ जो सुख चलदल सा रहा डोल!

देखा क्या तुमने कभी नही स्वर्गीय सुखो पर प्रलय-नृत्य?
फिर नाश और चिर निद्रा हैं तब इतना क्यों विश्वास सत्य?

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों अभिलाषा इतनी रही जाग?
यह संचित क्यो हो रहा स्नेह किस पर इतनी हो सानुराग?

यह जीवन का वरदान, मुझे दे दो रानी अपना दुलार!
केवल मेरी ही चिंता का तव चित्त वहन कर रहे भार।

मेरा सुन्दर विश्राम बना सृजता हो मधुमय विश्व एक;
जिसमें बहती हो मधु धारा लहरें उठती हों एक-एक।"

"मैने जो एक बनाया है। चल कर देखो मेरा कुटीर;"
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़ मनु को ले चली वहीं अधीर।

उस गुफा समीप पुआलों की छाजन छोटी सी शांति-पुंज;
कोमल लतिकाओं की डालें मिल सघन बनाती जहाँ कुंज।

थे वातायन भी कटे हुए प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र;
आवें क्षण भर तो चले जायँ रुक जायँ कही न समीर, अभ्र।

उसमें था झूला पड़ा हुआ वेतसी लता का सुरुचिपूर्ण;
बिछ रहा धरातल पर चिकना सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषायें उसमें चुपके से रहीं घूम!
कितने मंगल के मधुर गान उसके कोनों को रहे चूम!

मनु देख रहे थे चकित नया यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान!
पर कुछ अच्छा सा नही लगा 'यह क्यों? किसका सुख साभिमान?'

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली "देखो यह तो बन गया नीड़;
पर इसमें कलरव करने को आकुल न हो रही अभी भीड़।

तुम दूर चले जाते हो जब तब लेकर तकली यहाँ बैठ;
मैं उसे फिराती रहती हूँ अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मै बैठी गाती हूँ तकली के प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर –
चल री तकली धीरे धीरे प्रिय गये खेलने को अहेर!

जीवन का कोमल तंतु बढ़े तेरी ही मंजुलता समान;
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटे सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।

किरणों सी तू बुन दे उज्ज्वल मेरे मधु जीवन का प्रभात;

जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल ढँक ले प्रकाश से नवल गात।

वासना भरी उन आँखों पर आवरण डाल दे कांतिमान;
जिसमें सौंदर्य निखर आवे लतिका में फुल्ल कुसुम समान।

अब वह आगन्तुक गुफा बीच पशु सा न रहे निर्वसन नग्न;
अपने अभाव की जड़ता में वह रह न सकेगा कभी मग्न।

सूना न रहेगा यह मेरा लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मै उसके लिए बिछाऊँगी फूलों के रस का मृदुल फेन।

झूले पर उसे झूलाऊँगी दुलरा कर लूँगी बदन चूम;
मेरी छाती से लिपटा इस घाटी में लेगा सहज घूम।

वह आवेगा मृदु मलयज सा लहराता अपने मसृण बाल;
उसके अधरों से फैलेगा नवमधुमय स्मिति-लतिका-प्रवाल।

अपनी मीठी रसना से वह बोलेगा ऐसे मधुर बोल;
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।

मेरी आँखों का सब पानी तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध;
उन निर्विकार नयनों में जब देखूँगी अपना चित्र मुग्ध!”

“तुम फूल उठोगी लतिका सी कम्पित कर सुख सौरभ तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।

यह जलन नही सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्व।

यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो है प्रेम बाँटने का प्रकार!
भिक्षुक मैं? ना, यह कभी मैं लौटा लूँगा निज विचार।

तुम दानशीलता से अपनी बन सजल जलद वितरो न विन्दु;
इस सुख नभ में मैं विचरूँगा बन सकल कलाधर शरद इंदु।

भूले से कभी निहारोगी कर आकर्षण मय हास एक;
मायाविनि! मै न उसे लूँगा वरदान समझ कर, जान टेक!

इस दीन अनुग्रह का मुझ पर तुम बोझ डालने में समर्थ;

अपने को मत समझो श्रद्धे! होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ!

तुम अपने सुख से सुखी रहो मुझको अपने दुख पाने दो स्वतंत्र;

'मन का परवशता महा दुःख' मै यही जपूँगा महामन्त्र!

लो चला आज मैं छोड़ यही संचित संवेदन भार पुंज;

मुझको काँटे ही मिले धन्य! हो सफल तुम्हें कुसुम कुंज।"

कह, ज्वलनशील अंतर लेकर मनु चले गये, था शून्य प्रांत;

"रूक जा, सुन ले ओ निर्मोही।" वह कहती रही अधीर श्रांत।

इड़ा

"किस गहन गुहा से अति अधीर

झंझा प्रवाह से निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर

ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
संघर्ष कर रहा सब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरंतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर?"

देखे मैने वे शैल शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग
अपनी समाधि में रहे सुखी बह जाती है नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद विंदु उसके लेकर वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा में वैसी चाहता नही इस जीवन की
मै तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग में कम्पन की तरंग
वह ज्वलन शील गतिमय पतंग।

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश

जब छोड़ चला आया सुन्दर प्रारंभिक जीवन का निवास

वन, गुहा, कुंज, मरू अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास

पागल मैं, किस पर सदय रहा? क्या मैने ममता ली न तोड़!

किस पर उदारता से रीझा? किससे न लगा दी कड़ी होड़!

इस विजन प्रांत में विलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला

लू सा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला

मै स्वप्न देखता हूँ उजड़ा कल्पना लोक में कर निवास

देखा कब मैने कुसुम हास।

इस दुख मय जीवन का प्रकाश

नभ नील लता की डालो में उलझा अपने सुख से हताश

कलियाँ जिनको मै समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास

कितना बीहड़ पथ चला और पड़ रहा कही थक कर नितांत

उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मैं निर्वासित अशांत

इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही

खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही

पावस रजनी में जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मै निराश
उन ज्योति कणों का कर विनाश।

जीवन निशीथ के अंधकार!
तू नील तुहिन जल-निधि बन कर फैला है कितना वार पार
कितनी चेतनता की किरनें हैं डूब रही ये निर्विकार
कितनी मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका में अभंग
तू मूर्तिमान हो छिप जाता प्रतिपल के परिवर्तन अनंग
ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमें ज्योति कला
जैसे सुहागिनी की ऊर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण भला
रे चिर-निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार!

जीवन निशीथ के अंधकार!
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगन्त

मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती है अनंत
कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन! हँसती तुझमें सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

यह उजड़ा सूना नगर-प्रांत
जिसमें सुख दुख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प सी हो नितांत
निज विकृत वक्र रेखाओं से, प्राणी का भाग्य बनी अशांत
कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बन कर मँडराती विकीर्ण
इन ढेरों में दुखभरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
आती दुलार को हिचकी सी सूने कोनों में कसक भरी
इस सूखे तरु पर मनोवृति आकाश-बेलि सी रही हरी
जीवन समाधि के खँडहर पर जो जल उठते दीपक अशांत
फिर बुझ जाते वे स्वयं शांत।

यों सोच रहे मनु पड़े श्रांत

श्रद्धा का सुख साधन निवास जब छोड़ चले आये प्रशांत
पथ पथ में भटक अटकते वे आये इस ऊजड़ नगर प्रांत
बढ़ती सरस्वती वेग भरी निस्तब्ध हो रही निशा श्याम
नक्षत्र निरखते निर्निमेष वसुधा की वह गति विकल वाम
वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
देवेश इंद्र की विजय कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
वह पावन सारस्वत प्रदेश दुःस्वप्न देखता पड़ा क्लांत
फैला था चारों ओर ध्वांत।

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्मविश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार-
"मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर
उल्लासशील मैं शक्ति केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनंद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा"
प्राणों के सुख साधन में ही, संलग्न असुर करते सुधार

नियमों में बँधते दुर्निवार।

था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनो का हठ था दुर्निवार, दोनो ही थे विश्वास हीन
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें-क्यो हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमें ममत्व मय आत्म मोह स्वातंत्र्य मयी उच्छृंखलता
हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्त्तित हो मुझ को बना रहा अधिक दीन
सचमुच मैं हूँ श्रद्धा विहीन।”

"मनु! तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने को समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल
जो क्षण बीतें सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता ही नारी की
समरसता हैं संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।"
जब गूँजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अम्बर अकूल
मनु को जैसे चुभ गया शूल।

"यह कौन? अरे फिर वही काम!
जिसने इस भ्रम में है डाला छीना जीवन का सुख विराम?
प्रत्यक्ष लगा होने अतीत जिन घड़ियों का अब शेष नाम
वरदान आज उस गत युग का कम्पित करता है अंतरंग
अभिशाप ताप की ज्वाला से जल रहा आज मन और अंग।"
बोले मनु "क्या में भ्रान्त साधना में ही अब तक लगा रहा
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिए नही सस्नेह कहा?
पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत धाम
फिर क्यो न हुआ मैं पूर्णकाम?""

“मनु! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान

जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र
सौन्दर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
'कुछ मेरा हो' यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।

हाँ अब तुम बनने को स्वतंत्र
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र
डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी है नवीन
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुए जिसको चाहे ले रहे बीन
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्त्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यंत्र
हो शाप भरा तव प्रजातंत्र।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नही परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

अनवरत उठे कितनी उमंग
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृंग
जीवन नद हाहाकार भरा हो उठती पीड़ा का तरंग
लालसा भरे यौवन के दिन पतझड़ से सूखे जायँ बीत
संदेह नये उत्पन्न रहें उनसे संतप्त सदा सभीत
फैलेगा स्वजनों का विरोध बन कर तम वाली श्याम अमा
दारिद्रय दलित बिलखाती हो यह शस्य श्यामला प्रकृति रमा

दुख नीरद में बन इंद्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
बन तृष्णा ज्वाला का पतंग।

वह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थो से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत
सारी संसृति हो विरह भरी, गाते ही बीते करुण गीत
आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
तुम राग विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त
मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नहीं
वह चलने को जब कहे कही तब हृदय विकल चल जाय कही
रोकर बीतें सब वर्त्तमान क्षण सुन्दर सपना हो अतीत
पेंगों में झूले हार जीत।

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधा मय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूर्ण अहंता में हो राग मयी सी महाशक्ति
व्यापकता नियति प्ररेणा बन अपनी सीमा में रहे बंद

सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रखे छंद
कर्तृव्य सकल बन आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

जीवन सारा बन जाय युद्ध
उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जायें सभी जो भाव शुद्ध
अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दंभ स्तूप
श्रद्धा इस संसृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वास मयी
सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुमसे ही तो वह छली गयी
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध।

तुम जरा मरण में चिर अशांत

जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्त्तन अनंत
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अंत
दुखमय चिर चिंतन के प्रतीक! श्रद्धा वंचक बनकर अधीर
मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर
'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वंचना से भर जा
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रांत
वह चलता रहे सदैव श्रांत!”

अभिशाप प्रतिध्वनि हुई लीन
नभ सागर अंतस्तल में जैसे छिप जाता महा मीन
मृदु मरुत लहर में फेनोपम तारागण झिलमिल हुए दीन
निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तंद्रालस था वह विजन प्रांत
रजनी तम पुंजीभूत सदृश मनु श्वास ले रहे थे अशांत
वे सोच रहे थे "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
लिख दिया आज उसने भविष्य! यातना चलेगी अंतहीन

अब तो अवशिष्ट उपाय भी न।”

करती सरस्वती मधुर नाद
बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव सी अप्रमाद
सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद
वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमें था केवल मधुर गान
थी कर्म निरंतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान
हिम शीतल लहरों का रह रह कूलों से टकराते जाना
आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराना
अद्भुत था! निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद
कहता जाता कुछ सुसंवाद।

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बने उषा अंचल में आंदोलन अमंद
करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद

उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन-महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुषमा का मंडल सुस्मित सा बिखराता संसृति पर सुहाग
सोया जीवन का तम विराग।

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में भी गति भरी ताल।

नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार

निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार
पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूँदें मधुर मौन
निस्वन दिगंत में रहे सहसा बोले मनु "अरे कौन
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया"
तंद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
वीचियाँ नाचती बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोज
वह बोली “मै हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल।”
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल
“मनु मेरा नाम सुनो बाले! मै विश्व पथिक सह रहा क्लेश”
“स्वागत! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।”

“मै तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
भव के भविष्य का द्वार खोल!

“इस विश्व कुहर में इंद्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत माल
सागर की भीषण तम तरंग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे है सृष्टि उसे जा नाशमयी
उसका अधिपति! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी
सुख नीड़ो को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल?

शनि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय
क्या बन सकता है? नियति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय।”

“कोई भी हो क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे

अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गंतव्य मार्ग पर पैर धरे
मत कर पसार निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक
उसको कब कोई सके रोक।

“हाँ तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करत बस बढा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।”

हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन मरण शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक

ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज
हँस पड़ी उषा प्राची नभ में देखे नर अपना राज-काज
चल पड़ी देखने वह कौतुक चंचल मलयाचल की बाला
लख लाली प्रकृति कपोलों में गिरता तारा दल मतवाला
उन्निद्र कमल कानन में होती थी मधुपों की नोक झोंक
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

"जीवन निशीथ का अंधकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पड़े मेरे ये मनोभाव सोये विहंग
हँसती प्रसन्नता चाव भरी बन कर किरनों की सी तरंग
अवलम्ब छोड़ कर औरों की जब बुद्धिवाद को अपनाया
मै बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बने, जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

स्वप्न

संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती!
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहा!
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नही जहाँ।

जहाँ तामरस इंदीवर या सित शतदल है मुरझाये,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नही,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नही,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही;
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नही।

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका सी किरनें,
स्वप्न लोक को चली थकी सी नींद सेज पर जा गिरने;
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नही,
बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने!

संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे;
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिल कर जो स्वर भरते थे: –

“जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी?

नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्बुद् है गिन दोगी?
प्रतिविम्बित है तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिविम्ब एक के इस रहस्य को खोलेगी!

इस अवकाश पटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते है,
उनमें कितने रंग भरे जो सुरधनु पट से छनते है;
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते है।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ!
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ?
बुझ न जाय वह साँझ किरन सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नही तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ!

आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले;
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतिक्षा की संध्या,
कामायनि! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले!

विरल डालियों के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन कथा फिर कौन कहे?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे!

अरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ!
जब निस्संबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ;
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं, तब कैसे सुलझे, उलझी सुख दुख की लड़ियाँ!

विस्मृत हो वे बीती बातें अब जिनमें कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नही!
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नही!

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ?
और मधुर विश्वास! अरे वह पागल मन का मोह रहा!
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैने, ऐसा अब अनुमान रहा!

विनियम प्राणों का यह कितना भयसंकुल व्यापार अरे!
देना हो जितना दे दे तू, लेना! कोई यह न करे!
परिवर्त्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,
संध्या रवि देकर पाता है इधर उधर उडुगन बिखरे।

वे कुछ दिन जो हँसते आये अंतरिक्ष अरुणाचल से,
फूलो की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से;
फैल गयी जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवास में चले गये वे आने को कह कर छल से!

जब शिरीष की मधुर गंध से मान भरी मधु ऋतु रातें,
रूठ चली जाती रक्तिम-मुख, न सह जागरण की घातें;
दिवस मधुर आलाप कथा सा कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने तब तारा बन कर मुसक्याते।"

वन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से;
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से;
किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में;

रजनी की भीगी पलकों से तुहिन विंदु कण-कण बरसे।

मानस की स्मृति शतदल खिलता, झरते विंदु मरंद घने;
मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने!
आँसू सरल तरल विद्युत्कण, नयनालोक विरह तम में;
प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने।

अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के बिदु भरे,
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छिवि कितनी साथ लिये बिखरे!
वह अनुराग हँसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगुनू डरे डरे।

सूने गिरि-पथ में गुञ्जारित शृंगनाद की ध्वनि चलती;
आकांक्षा लहरी दुख-तटिनी पुलिन अंक में थी ढलती;
जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले;
भरा रह गया आँखों में जल, बूझी न वह ज्वाला जलती।

“माँ” — फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गयीं;
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

“कहाँ रहा नटखट! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना!
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख दुख तो दिया घना;
चंचल तू, वनचर मृग बन कर भरता है चौकड़ी कही;
मै डरती हूँ तू रूठ न जायें करती कैसे तुझे मना!"

“मै रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मै सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मै आज नही;
पके फलों से पेट भरा है नींद नही खुलने वाला?”
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

जल उठते है लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर के छाले बन कर जा झलके;

दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कही,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के।

प्रणय किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता।
मधुर चाँदनी सी तंद्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता!

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा की पुकार बन नभ में खिंचती रेख रही!

इड़ा अग्नि-ज्वाला सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मधु का पथ आलोकित करती विपद-नदी में बनी तरी;
उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृंग सी श्रांति नही,
तीव्र प्ररेणा की धारा सी बही वहीं उत्साह भरी।

वह सुन्दर आलोक किरन सी हृदय भेदिनी दृष्टि लिये,

जिधर देखती, खुल जाते है तम ने जो पथ बन्द किये!
मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी,
आश्रय की भूखी जनता ने निज श्रम के उपहार दिये!

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी है सभी बने,
दृढ प्राचीरों में मंदिर के द्वार दिखाई पड़े घने;
वर्षा धूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए,
खेतों में है कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम-स्वेद सने।

उधर धातु गलते, बनते है आभूषण औ' अस्त्र नये,
कहीं साहसी ले आते है मृगया के उपहार नये;
पुष्पावलियाँ चुनती है वन-कुसुमों की अध-विकच कली,
गंध चूर्ण था लोध्र कुसुम रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।

घन के आघातों से होती जो प्रचंड़ ध्वनि रोष भरी,
तो रमणी के मधुर कण्ठ से हृदय मूर्च्छना उधर ढरी;
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ,
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।

देश काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से है,
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके संबल में है;
बढ़े ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में,
नर प्रयत्न से ऊपर आवे जो कुछ वसुधा तल में है।

सृष्टि बीज अंकुरित, प्रफुल्लित, सफल हो रहा हरा-भरा!
प्रलय बीच भी रक्षित मनु से वह फैला उत्साह भरा;
आज स्वचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनाएँ करके,
स्वावलम्ब की दृढ़ धरणी पर खड़ा, नही अब रहा डरा।

श्रद्धा उस आश्चर्य-लोक में मलय-बालिका सी चलती,
सिंहद्वार के भीतर पहुँची, खड़े प्रहरियों को छलती;
ऊँचे स्तम्भों पर वलभीयुत बने रम्य प्रासाद वहाँ,
धूप धूम सुरभित गृह, जिनमें थी आलोक-शिखा जलती।

स्वर्ण कलश शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने।
ऋजु-प्रशस्त पथ बीच-बीच में, कही लता के कुंज घने;
जिनमें दम्पति समुद विहरते, प्यार भरे दे गलबाहीं,
गूँज रहे थे मधुप रसीले, मदिरा-मोद पराग सने।

देवदारु के वे प्रलम्ब भुज, जिनमें उलझी वायु-तरंग,
मुखरित आभूषण से कलरव करते सुन्दर बाल विहंग;
आश्रय देता वेणु वनों से निकली स्वर लहरी ध्वनि को,
नाग केसरों की क्यारी में अन्य सुमन भी थे बहुरंग।

नव मंडप में सिंहासन सम्मुख कितने ही मंच तहाँ,
एक ओर रक्खे है सुन्दर मढ़े चर्म से सुखद वहाँ,
आती है शैलेय की धूम-गंध आमोद भरी,
श्रद्धा सोच रही सपने में, 'यह लो मै आ गयी कहाँ?'

और सामने देखा उसने निज दृढ़ कर में चषक लिये,
मनु, वह क्रतुमय पुरुष! वही मुख संध्या की लालिमा पिये;
मादक भाव सामने, सुन्दर एक चित्र सा कौन यहाँ,
जिसे देखने को यह जीवन मर-मर कर सौ बार जिये?

इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नही,

तृषित कंठ को, पी-पी कर भी, जिसमें है विश्वास नही;
वह वैश्वानर की ज्वाला सी, मंच वेदिका पर बैठी,
सौमनस्य बिखराती शीतल, जड़ता का कुछ भास नही।

मनु ने पूछा “और अभी कुछ करने को है शेष यहाँ?”
बोली इड़ा “सफल इतने मे अभी कर्म सविशेष कहाँ!
क्या सब साधन स्ववश हो चुके?” “नही अभी मै रिक्त रहा –
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।

सुन्दर मुख, आँखो की आशा, किन्तु हुए ये किसके है;
एक बाँकपन प्रतिपद शशि का, भरे भाव कुछ रिस के है;
कुछ अनुरोध मान-मोचन का करता आँखों में संकेत;
बोल अरी मेरी चेतनते! तू किसकी, ये किसके है?”

“प्रजा तुम्हारी, तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मै,
यह सन्देह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मै?"
"प्रजा नही, तुम मेरी रानी मुझे न अब भ्रम में डालो,
मधुर मराली! कहो 'प्रणय के मोती अब चुनती हूँ मै।'

मेरा भाग्य गगन धुँधला सा, प्राची पट सी तुम उसमें,
खुल कर स्वयं अचानक कितनी प्रभापूर्ण हो छवि यश में;
मै अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके! बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरो के रस में?

ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया,
स्वर संचरित दिशाएँ, मन है उन्मद और शिथिल काया;
तब तुम प्रजा बना मत रानी!” नर पशु कर हुंकार उठा,
उधर फैलती मदिर घटा सी अंधकार की घन माया।

आलिंगन! फिर भय का क्रंदन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।

उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव-शक्तियाँ क्रोध भरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी;
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहे!
नही; इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी!

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य-विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना!
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर थर कँपना।

काँप रहे थे प्रलयमयी क्रीड़ा से सब आशंकित जन्तु,
अपनी-अपनी पड़ी सभी को, छिन्न स्नेह का कोमल तंतु;
आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये,
इड़ा क्रोध लज्ज्ञा से भर कर बाहर निकल चली थी किन्तु।

देखा उसने, जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नही;
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय!
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही!

कोलाहल में घिर, छिप बैठे मनु, कुछ सोच विचार भरे,
द्वार बन्द लख प्रजा त्रस्त सू, कैसे मन फिर धैर्य धरे!
शक्ति तरंगों में आंदोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था,

महानील-लोहित-ज्वाला का नृत्य सभी से उधर परे।

वह विज्ञान मयी अभिलाषा, पंख लगा कर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की;
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गो की खाई फैली कभी नही जो जुड़ने की।

असफल मनु कुछ क्षुब्ध हो उठे, आकस्मिक बाधा कैसी,
समझ न पाये कि यह हुआ क्या, प्रजा जुटी क्यो आ ऐसी!
परित्राण प्रार्थना विकल थी देव क्रोध से बन विद्रोह,
इड़ा रही जब वहाँ! स्पष्ट ही वह घटना कुचक्र जैसी।

"द्वार बन्द कर दो इनको तो अब न यहाँ आने देना,
प्रकृति आज उत्पात कर रही, मुझको बस सोने देना।"
कह कर यों मनु प्रगट क्रोध में, किन्तु डरे से थे मन में,
शयन कक्ष में चले सोचते जीवन का लेना-देना!

श्रद्धा काँप उठी सपने में, सहसा उसकी आँख खुली,
यह क्या देखा मैने? कैसे वह इतना हो गया छली?

स्वजन स्नेह में भय की कितनी आशंकाएँ उठ आती,
अब क्या होगा, इसी सोच में व्याकुल रजनी बीत चली।

संघर्ष

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था;
इड़ा संकुचित उधर प्रजा मे क्षोभ घना था।

भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये;
राज शरण में त्राण प्राप्त करने को आये।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था;
मनस्ताप से सब के भीतर रोष भरा था।

क्षुब्ध निरखते वदन इड़ा की पीला पीला;
उधर प्रकृति की रुकी नही थी तांडव लीला।

प्रांगण में थी भीड़ बढ़ रही सब जुड़ आये;
प्रहरी गण कर द्वार बंद थे ध्यान लगाये।

रात्रि घनी कालिमा पटी में दबी-लुकी सी;
रह रह होती प्रगट मेघ की ज्योति झुकी सी।

मनु चिन्तित से पड़े शयन पर सोच रहे थे;
क्रोध और शंका के श्वापद नोच रहे थे।

“मै यह प्रजा बना कर कितना तुष्ट हुआ था;
किन्तु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था।

कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया;
अलग अलग ये एक हुई पर इनकी छाया।

मै नियमन के लिए बुद्धि बल से प्रयत्न कर;
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर।

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं;

तनिक न मै स्वच्छंद, स्वर्ण सा सदा रहूँ मैं।

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं;
क्या अधिकार नही कि कभी अविनीत रहूँ मैं?

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मै;
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब वहाँ रुका मै!

इड़ा नियम-परतंत्र चाहती मुझे बनाना;
निर्वासित अधिकार उसी ने एक न माना।

विश्व एक बंधन विहीन परिवर्त्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो है:–

रूप बदलते रहते वसुधा जल निधि बनती;
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।

तरल अग्नि की दौड़ लगी है सब के भीतर;
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर।

यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता!
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता?

कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महा विवर में;
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में।

उठती है पवनों के स्तर में लहरें कितनी;
यह असंख्य चीत्कार और परवशता इतनी।

यह नर्त्तन उन्मुक्त विश्व का स्पंदन द्रुततर,
गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।

कभी कभी हम वही देखते पुनरावर्तन;
उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन।

रुदन हास बन किंतु पलक में छलक रहे है;
शत शत प्राण विमुक्ति खोजते ललक रहे है।

जीवन में अभिशाप शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि कुंज हो रहा हरा है।

विश्व बँधा है परखा फिर सुख साधन जाना,
वशी नियामक रहे, न ऐसा मैने माना।

मै चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन,
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।"

प्रगतिशील मन रुका, एक क्षण करवट लेकर,
देखा अविचल इड़ा खड़ी फिर सब कुछ देकर!

और कह रही "किन्तु नियामक नियम न माने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।"

"ऐं तुम फिर भी यहाँ आज कैसे चली आयी,
क्या कुछ और उपद्रव की है बात समायी –

मन में, यह सब आज हुआ है जो कुछ इतना!
क्या न हुई है तुष्टि? बच रहा है अब कितना?"

“मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहे!

आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा,
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा?"

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित।

चिति केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है: –

वे विस्मृत पहचान रहे से एक एक को,
होते सतत समीप मिलाते है अनेक को।

स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरें वे रह जावे,
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।

व्यक्ति चेतना इसीलिए परतंत्र बनी सी,
रागपूर्ण, पर द्वेष पंक में सतत सनी सी;

नियत मार्ग मे पद पद पर है ठोकर खाती,
अपने लक्ष्य समीप श्रांत हो चलती जाती।

यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि साधना,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की अ'राधना।

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में।

देश कल्पना काल परिधि में होती लय है,
काल खोजता महा चेतना में निज क्षय है।

वह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से,

तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति में।

क्षितिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्मांड विवर में,
गुंजारित घन नाद सुनो इस विश्व कुहर में।

ताल ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।"

“अच्छा! यह तो फिर न तुम्हे समझाना है अब,
तुम कितनी प्रेरणामयी हो जान चुका सब।

किन्तु आज ही अभी लौट कर फिर हो आयी,
कैसे यह साहस की मन में बात समायी!

आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या!
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या?

मै सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या?

कुछ पाने का यह प्रयास है पाप, सहूँ क्या?

तुमने भी प्रतिदान किया कुछ कह सकती हो?

मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो!

जो मै हूँ चाहता वही जब मिला नही है;

तब लौटा दो व्यर्थ बात जो अभी कही है।”

“इंड़े! मुझे वह वस्तु चाहिए जो मै चाहूँ,

तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।

तुम्हें देख कर बंधन ही अब टूट रहा सब,

शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।

देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन!

मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन।

इस कठोर ने प्रलय खेल है हँस कर खेला,

किन्तु आज कितना कोमल हो रहा अकेला?

तुम कहती हो विश्व एक लय है, मै उसमें,
लीन हो चलूँ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमें।

क्रंदन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर,
फिर झंझा हो वज्र प्रगति से भीतर बाहर।

फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे,
रवि शशि तारा सावधान हो चौके जागे।

किन्तु पास ही रहो बालिके, मेरी हो तुम,
मै हुँ कुछ खिलवाड़ नही जो अब खेला तुम?”

“आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें,

तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते।

प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी है,
प्रकृति सतत आतंक विकंपित घड़ी है।

सावधान, मै शुभाकांक्षिणी और कहूँ क्या?
कहना था कह चुकी और अब यहाँ रहूँ क्या?"

"मायाविनि, बस पा ली तुमने ऐसे छुट्टी,
लड़के जैसे खेलो में कर लेते खुट्टी।

मूर्त्तिवती अभिशाप बनी सी सम्मुख आयी,
तुमने ही संघर्ष भूमिका मुझे दिखायी।

रुधिर भरी वेदियाँ भयकरी उनमें ज्वाला,
विनयन का उपचार तुम्हीं से सीख निकाला।

चार वर्ण बन गये बँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यंत्र बन चले, न देखा जिनका सपना।

आज शक्ति का खेल खेलने मे आतुर नर,
प्रकृति संग संघर्ष निरंतर अब कैसा डर?

बाधा नियमों की न पास में अब आने दो,
इस हताशा जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो।

राष्ट्र स्वामिनी, यह लो सब कुछ वैभव अपना,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना।

यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वंस हुआ सा,
समझो, तुम हो अग्नि और यह सभी धुँआ सा?"

"मैने जो मनु, किया उसे मत यो कह भूलो;
तुमको जितना मिला उसी में यो मत फूलो।

प्रकृति संग संघर्ष सिखाया तुमको मैने,
तुमको केन्द्र बना कर अनहित किया न मैने!

मैने इस बिखरी विभूति पर तुमको स्वामी,
सहज बनाया, तुम अब जिसके अंतर्यामी।

किन्तु आज अपराध हमारा अलग खड़ा है,
हाँ मे हाँ न मिलाऊँ तो अपराध बड़ा हैं।

मनु! देखो यह भ्रांति-निशा अब बीत रही है,
प्राची में नव उषा तमस को जीत रही है।

अभी समय है मुझ पर कुछ विश्वास करो तो,
बनती है सब बात तनिक तुम धैर्य धरो तो।”

और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर आया,
इधर इड़ा ने द्वार ओर निज पैर बढ़ाया।

किन्तु रोक ली गयी भुजाओं से मनु की वह,
निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह।

“यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी!
मुझको अपना अस्त्र बना कर करती मनमानी।

यह छल चलने में अब पंगु हुआ सा समझो,
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो।

शासन की यह प्रगति सहज ही अभी रुकेगी;
क्यों कि दासता मुझसे अब तो हो न सकेगी।

मै शासक, मै चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा –
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

छिन्न भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में,
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में।

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रंदन।

किंतु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में," फिर सब डूबा आहों में!

सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आयी,
“मेरी रानी” उसने जो चीत्कार मचायी।

अपनी दुर्बलता में मनु तब हाँफ रहे थे,
स्खलित विकंपित पद वे अब भी काँप रहे थे।

सजग हुए मनु वज्र खचित ले राज दंड तब,
और पुकारा “तो सुन लो जो कहता हूँ अब –

“तुम्हें तृप्तिकर सुख के साधन सकल बताये,
मैने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये।

अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते है,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं!"

आज न पशु है हम, या गूँगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी!”

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
“देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से!

तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार संकट में डाला।

हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख!

प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी!
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी!

और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है?
इसीलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है?

आज बंदिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है?
यो यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है?”

“तो फिर मै हूँ आज अकेला जीवन रण में,

प्रकृति और उसके पुतलों के दल भीषण में।

आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें,
राज दंड को वज्र बना सा सचमुच देखें।”

यों कह मनु मे अपना भीषण अस्त्र सम्हाला,
देव ‘आग’ ने उगली त्यों ही अपनी ज्वाला।

छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले;

अंधड़ था बढ़ रहा, प्रजा दल सा झुँझलाता,
रण वर्षा में शस्त्रों सा बिजली चमकाता।

किन्तु क्रूर मनु वारण करते उन बाणों को,
बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणो को।

तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षण मयी, त्रास से सब व्याकुल थे।

मनु फिर रहे अलात-चक्र से उस घन तम में,
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में।

उठा तुमुल रण नाद, भयानक हुई अवस्था,
बढ़ा विपक्ष समूह मौन पददलित व्यवस्था।

आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।

बहते विकट अधीर विषम उंचास वात थे,
मरण पर्व था; नेता आकुलि औ' किलात थे।

ललकारा, 'बस अब इसको मत जाने देना,'
किन्तु सजग मनु पहुँच गये कह 'लेना लेना'।

"कायर! तुम दोनो ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।

तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, पुरोहित, ओ किलात औ' आकुलि।"

और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण,
इड़ा अभी करती जाती थी “बस रोको रण: –

भीषण जन संहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यो जीवन खोता हैं।

क्यो इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

किन्तु सुन रहा कौन! धधकती वेदी ज्वाला,
सामूहिक बलि का निकला था पंथ निराला।

रक्तोन्मद मनु का न हाथ अब भी रुकता था,
प्रजा पक्ष का भी न किन्तु साहस झुकता था।

वही घर्षिता खड़ी इड़ा सारस्वत रानी,
वे प्रतिशोध अधीर रक्त बहता बन पानी।

धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर,

लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।

अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठी।

और गिरी मनु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
रक्त नही की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

निर्वेद

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष विषाद आवरण तना।

उल्का धारी प्रहरी से ग्रह-तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है अणु अणु क्यों मचल रहे?

जीवन में जागरण सत्य है या सुषुप्ति ही सीमा है,
आती है रह रह पुकार सी 'यह भव रजनी भीमा है।'

निशिचारी भीषण विचार के पंख भर रहे सर्राटे,
सरस्वती थी चली जा रही खींच रही सी सन्नाटे।

अभी घायलों की सिसकी में जाग रही थी मर्म व्यथा,
पुर लक्ष्मी खगरव के मिस कुछ कह उठती थी करुण कथा।

कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके दीपों से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक रुक खिन्न भरा अवसाद रहा।

भय मय मौन निरीक्षक सा था सजग सतत चुपचाप खड़ा,
अंधकार का नील आवरण दृश्य जगत से रहा बड़ा।

मंडल के सोपान पड़े थे सूने, कोई अन्य नहीं,

स्वयं इड़ा उस पर बैठी थी अग्नि शिखा थी धधक रही।

शून्य राज चिह्नों से मन्दिर बस समाधि सा रहा खड़ा,

क्योंकि वहीं घायल शरीर वह मनु का तो था रहा पड़ा।

इड़ा ग्लानि से भरी हुई बस सोच रही बीती बातें,

घृणा और ममता में ऐसी बीत चुकीं कितनी रातें।

नारी का वह हृदय! हृदय में सुधा सिन्धु लहरें लेता,

बाड़व ज्वलन उसी में जल कर कंचन सा जल रँग देता।

मधु पिंगल उस तरल अग्नि में शीतलता संसृति रचती,

क्षमा और प्रतिशोध! आह रे दोनों की माया नचती।

“उसमे स्नेह किया था मुझसे हाँ अनन्य वह रहा नही,

सहज लब्ध थी वह अनन्यता पड़ी रह सके जहाँ कही।

बाधाओं का अतिक्रमण कर जो अबाध हो दौड़ चलें,

वही स्नेह अपराध हो उठा जो सब सीमा तोड़ चले।

“हाँ अपराध, किन्तु वह कितना एक अकेले भीम बना,
जीवन के कोने से उठ कर इतना आज असीम बना!

और प्रचुर उपकार सभी वह -सहृदयता की सब माया-
शून्य शून्य था! केवल उसमें खेल रही थी छल छाया!

“कितना दुखी एक परदेशी बन, उस दिन जो आया था,
जिसके नीचे धरा नही थी शून्य चतुर्दिक छाया था।

वह शासन का सूत्रधार था नियमन का आधार बना,
अपने निर्मित नव विधान से स्वयं दंड साकार बना।

“सागर की लहरों से उठ कर शैल शृंग पर सहज चढ़ा,
अप्रतिहत गति, संस्थानों से रहता था जो सदा बढा।

आज पड़ा है वह मुमूर्षु सा वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुए पराये सबका ही जो अपना था।

“किन्तु, वही मेरा अपराधी जिसका वह उपकारी था,
प्रकट उसी से दोष हुआ है जो सब को गुणकारी था।

अरे सर्ग-अंकुर के दोनो पल्लव है भले बुरे;
एक दूसरे की सीमा है क्यों न युगल को प्यार करें?

“अपना हो या औरों का सुख बढ़ा कि बस दुख बना वहीं,
कौन बिन्दु है रुक जाने का यह जैसे कुछ ज्ञात नही।

प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्त्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है बिखराता सा अपने ही पथ में रोड़े।

“इसे दंड देने मै बैठी या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली कितनी उलझन वाली मैं?

एक कल्पना है मीठी यह इससे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि, वास्तविकता से अच्छी सत्य इसी को वर देगा।”

चौक उठी अपने विचार से कुछ दूरागत ध्वनि सुनती,
इस निस्तब्ध निशा में कोई चली आ रही है कहती –

“अरे बता दो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मै फेरा।

रूठ गया था अपनेपन से अपना सकी न उसको मै,
वह तो मेरा अपना ही था भला मनाती किसको मै!

यही भूल अब शूल सदृश हो साल रही उर में मेरे,
कैसे पाऊँगी उसको मै कोई आकर कह दे रे।"

इड़ा उठी, दिख पड़ा राज पथ धुँधली सी छाया चलती,
वाणी में थी करुण वेदना वह पुकार जैसे जलती।

शिथिल शरीर वसन विश्रृंखन कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्नपत्र मकरन्द लुटी सी ज्यों मुरझायी हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में वय किशोर उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य सा अपनी माता को जकड़े।

थके हुए थे दुखी बटोही वे दोनों ही माँ बेटे,
खोज रहे थे भूले मनु के जो घायल हो कर लेटे।

इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही दुखियों को देखा उसने,
पहुँची पास और फिर पूछा "तुमको बिसराया किसने?

इस रजनी में कहाँ भटकती जाओगी तुम बोलो तो,
बैठो आज अधिक चंचल हूँ व्यथा गाँठ निज खोलो तो।

जीवन की लंबी यात्रा में खोये भी है मिल जाते,
जीवन है तो कभी मिलन है कट जाती दुख की रातें।”

श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था मिलता है विश्राम यहीं,
चली इड़ा के साथ जहाँ पर वह्नि शिखा प्रज्वलित रही।

सहसा धधकी वेदी ज्वाला मंडप आलोकित करती,
कामायनी देख पायी कुछ पहुँची उस तक डग भरती।

और वही मनु! घायल सचमुच तो क्या सच्चा स्वप्न रहा?
“आह प्राण प्रिय! यह क्या? तुम यों!” घुला हृदय, बन नीर बहा।

इड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था व्यथा भला क्यो रह जाती?

उस मूर्च्छित नीरवता में कुछ हलके से स्पन्दन आये,
आँखें खुली चार कोनों में चार विन्दु आकर छाये।

उधर कुमार देखता ऊँचे मन्दिर, मंडप, वेदी को,
यह सब क्या है नया मनोहर कैसे ये लगते जी को?

माँ न कहा 'अरे आ तू भी देख पिता है पड़े हुए,'
'पिता! लो गया आ' यह कहते उसके रोएँ खड़े हुए।

'माँ जल दे, कुछ प्यासे होगे क्या बैठी कर रही यहाँ?'
मुखर हो गया सूना मंडप यह सजीवता रही कहाँ?

आत्मीयता घुली उस घर में छोटा सा परिवार बना,
छाया मधुर स्वर उस पर श्रद्धा का संगीत बना।

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!

विकल होकर नित्य चंचल,

खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मै मलय की वात रे मन!

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मै उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन!

पवन की प्राचीर मे रुक,
जला जीवन जी रहा झुक;
इस झुलसते विश्व दिन की,
मै कुसुम ऋतु रात रे मन!

चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर में;
मधुप मुखर मरंद मुकुलित,
मै सजल जलजात रे मन!"

उस स्वर लहरी के अक्षर सब संजीवन रस बने घुले,
उधर प्रभात हुआ प्राची में मनु के मुद्रित नयन खुले।

श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर कृतज्ञता से हृदय भरे,
मनु उठ बैठे गद्गद होकर बोले कुछ अनुराग भरे।

“श्रद्धा! तू आ गयी भला तो पर क्या मै था यही पड़ा!”
वही भवन, वे स्तम्भ, वेदिका! बिखरी चारों ओर घृणा।

आँख बन्द कर लिया क्षोभ से "दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अंधकार में खो दूँ कही न फिर तुझको।

हाथ पकड़ ले, चल सकता हूँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन? परे हट, श्रद्धे! आ कि हृदय का कुसुम खिले।"

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती आँखों में विश्वास भरे,
मानो कहती 'तुम मेरे हो अब क्यों कोई वृथा डरे!"

जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से लगे बहुत धीरे कहने,
"ले चल इस छाया के बाहर मुझको दे न यहाँ रहने।

मुक्त नील नभ के नीचे या कही गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ जो आवेगा सह लेंगे।"

"ठहरो कुछ तो बल आने दो लिवा चलूँगी तुरंत तुम्हें,
इतने क्षण तक" श्रद्धा बोली – "रहने देंगी क्या न हमें?"

इड़ा संकुचित उधर खड़ी थी यह अधिकार न छीन सकी,
श्रद्धा अविचल, मनु अब बोले उसकी वाणी नही रुकी।

“जब जीवन मे साध भरी थी उच्छृङ्खल अनुरोध भरा,
अभिलाषाएँ भरी हृदय में अपनेपन का बोध भरा।

मै था, सुन्दर कुसुमों की वह सघन सुनहली छाया थी
मलयानिल की लहर उठ रही उल्लासों की माया थी!

उषा अरुण प्याला भर लाती सुरभित छाया के नीचे,
मेरा यौवन पीता सुख से अलसाई आँखें मींचे।

ले मकरन्द नया चू पड़ती शरद प्रांत की शेफाली,
बिखराती सुख ही, संध्या की सुन्दर अलकें घुँघराली।

सहसा अंधकार की आँधी उठी क्षितिज से वेग भरी,
हलचल से विक्षुब्ध विश्व, थी उद्वेलित मानस लहरी।

व्यथित हृदय उस नीले नभ में छायापथ सा खुला तभी,

अपनी मंगलमयी मधुर स्मिति कर दी तुमने देवि! जभी।

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि लगी खेलने रंग रली,
नवल हेम लेखा सी मेरे हृदय निकष पर खिंची भली।

अरुणाचल मन मंदिर की वह मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा;
लगी सिखाने स्नेह-मयी सी सुन्दरता की मृदु महिमा।

उस दिन तो हम जान सके थे सुन्दर किसको है कहते!
तब पहचान सके, किसके हित प्राणी यह दुख सुख सहते।

जीवन कहता यौवन से 'कुछ देखा तू ने मतवाले'
यौवन करता 'साँस लिये चल कुछ अपना सम्बल पा ले!'

हृदय बन रहा था सीपी सा तुम स्वाती की बूँद बनी,
मानस शतदल झूम उठा जब तुम उसमें मकरन्द बनी।

तुमने इस सूखे पतझड़ में भर दी हरियाली कितनी,

मैने समझा मादकता है तृप्ति बन गयी वह इतनी!

विश्व, कि जिसमें दुख की आँधी पीड़ा की लहरी उठती,

जिसमें जीवन मरण बना था बुदबुद की माया नचती।

वही शान्त उज्ज्वल मंगल सा दिखता था विश्वास भरा

वर्षा के कदम्ब कानन सा सृष्टि विभव हो उठा हरा।

भगवति! वह पावन मधु धारा! देख अमृत भी ललचाए,

बही, रम्य सौंदर्य शैल से जिसमें जीवन धुल जाये।

संध्या अब ले जाती मुझसे ताराओं की अकथ कथा,

नींद सहज ही ले लेती थी सारे श्रम की विकल व्यथा।

सहज कुतूहल और कल्पना उन चरणों से उलझ पड़ी,

कुसुम प्रसन्न हुए हँसते से जीवन की वह धन्य घड़ी।

स्मिति मधुराका थी, श्वासों से पारिजात कानन खिलता,
गति मरन्द-मन्थर मलयज सी स्वर में वेणु कहाँ मिलता!

श्वास पवन पर चढ़ कर मेरे दूरागत वंशी रव सी,
गूँज उठीं तुम, विश्व कुहर में दिव्य रागिनी अभिनव सी।

जीवन जलनिधि के तल से जो मुक्ता थे वे निकल पड़े,
जग-मंगल संगीत तुम्हारा गाते मेरे रोम खड़े।

आशा की आलोक किरन से कुछ मानस से ले मेरे,
लघु जलधर का सृजन हुआ था जिसको शशि लेखा घेरे –

उस बिजली की माला सी झूम पड़ी तुम प्रभा भरी,
और जलद वह रिमझिम बरसा मन वनस्थली हुई हरी।

तुमने हँस हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो,
तुमने मिलकर मुझ बताया सबसे करते मेल चलो।

यह भी अपने बिजली के से विभ्रम से संकेत किया,
अपना मन है, जिसको चाहा तब इसको दे दान दिया।

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी।

कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना संवेदन मय हृदय हुआ।

किन्तु अधम मै समझ न पाया उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ हर्ष शोक की छाया को

मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ,
ऐसा ही अनुभव होता है किरनों ने अब तक न छुआ।

शापित सा मै जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखले पन में जैसे कुछ खोजता अटकता हूँ।

अंध-तमस है, किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा,
सब पर, हाँ अपने पर भी मै झुँझलाता हूँ खीझ रहा।

नही पा सका हूँ मै जैसे जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमें कितनी मधु धारा हो ढाल रही।

सब बाहर होता जाता है स्वागत उसे मै कर न सका।
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सका।

यह कुमार मेरे जीवन का उच्च अंश, कल्याण कला!
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।

सुखी रहे, सब सुखी रहें बस छोड़ो मुझ अपराधी को,"
श्रद्धा देख रही चुप मनु के भीतर उठती आँधी को।

दिन बीता रजनी भी आयी तंद्रा निद्रा संग लिये,
इड़ा कुमार समीप पड़ी थी मन की दबी उमंग लिये।

श्रद्धा भी कुछ खिन्न थकी सी हाथों को उपधान किये,
पड़ी सोचती मन ही मन कुछ; मनु चुप सब अभिशाप पिये-

सोच रहे थे, "जीवन सुख है? ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है?

यह प्रभात की स्वर्ग किरन सी झिलमिल चंचल-सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे यह मुख या कलुषित काया।

और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर इनका क्या विश्वास करूँ,
प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर मन ही मन चुपचाप मरूँ।

श्रद्धा के रहते यह संभव नही कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शांति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

जगे सभी जब नव प्रभात में देखें तो मनु वहाँ नही,
'पिता कहाँ' कह खोज रहा सा कुमार अब शांत नही।

इड़ा आज अपने को सब से अपराधी है समझ रही,
कामायनी मौन बैठी सी अपने में ही उलझ रही।

दर्शन

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात;

उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल,
धारा बह जाती बिम्ब अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल;

चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

धूमिल छायाएँ रहीं घूम,
लहरी पैरों को रही चूम;

“माँ! तू चल आयी दूर इधर,
संध्या कब की चल गयी उधर;
इस निर्जन में अब क्या सुन्दर –
तू देख रही, हाँ बस चल घर;

उसमें से उठता गंध धूम”
श्रद्धा ने वह मुख लिया चूम।

“माँ! क्यों तू हैं इतनी उदास,
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास;

तू कई दिनों से यों चुप रह,
क्या सोच रही हैं? कुछ तो कह;
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह;

लेती ढीली से भरी साँस,
जैसे होती जाती हताश।”

वह बोली “नील गगन अपार,
जिसमें अवनत घन सजल भार;

आते जाते, सुख दुख, दिशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगुनू अविरल;

यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।

यह लोचन गोचर सकल लोक,
संसृति के कल्पित हर्ष शोक;

भावोदधि से किरनों के मग;
स्वाती कन से बन भरते जग,
उत्थान पतन मय सतत सजग,
झरने झरते आलिंगन नग;

उलझन की मीठी रोक-टोक,
यह सब उसकी हैं नोक-झोंक!

जग, जगता आँखें किये लाल,
सोता ओढ़े तम नींद जाल;

सुरधनु सा अपना रंग बदल
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल;

अपनी सुषमा में यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल;

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल!

इसके स्तर में मौन शान्ति,
शीतल अगाध हैं, ताप भ्रान्ति;

परिवर्तन मय यह चिर मंगल,
मुस्क्यातें इसमें भाव सकल;
हँसता हैं इसमें कोलाहल,
उल्लास भरा सा अन्तस्तल;

मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
या एक नीड़ हैं सुखद शान्ति।”

“अम्बे फिर क्यों इतना विराग,
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग?”

पीछे मुड़ श्रद्धा ने देखा,
वह इड़ा मलिन छबि की रेखा;
ज्यों राहुग्रस्त सी शशि लेखा,
जिस पर विषाद की विष रेखा;

कुछ ग्रहण कर रहा दीन त्याग,
सोया जिसका हैं भाग्य, जाग।

बोली, “तुम से कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति;

मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन,
देकर, तुमने रक्खा जीवन;
तुम आशामयि! चिर आकर्षण,
तुम मादकता की अवनत घन;

मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति,
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति!

मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल,
यह हृदय! अरे दो मधुर बोल;

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ,
मैं पाती हूँ खो देती हूँ;
इससे ले उसको देती हूँ,
मैं दुख को सुख कर लेती हूँ;

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल,
चिर विस्मृति सी हूँ रही डोल।

यह प्रभा पूर्ण तव मुख निहार,
मनु हत चेतन थे एक बार;

नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल;
फिर कौन क्षमा कर दे निश्छल,
जिससे यह धन्य बने भूतल;

'तूम क्षमा करोगी' यह विचार,
मैं छोड़ूँ कैसे साधिकार।”

“अब मैं रह सकती नहीं मौन,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन?

सुख दुख जीवन में सब सहते,
पर केवल सुख अपना कहते;
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस निर्झर से वे बहते,

रोके फिर उनको भला कौन?

सब को वे कहते-'शत्रु हो न!'

अग्रसर हो रही यहाँ फूट,
सीमाएं कृत्रिम रहीं टूट;

श्रम भाग वर्ग गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें;
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें;

सब पिये मत्त लालसा घूँट,
मेरा साहस अब गया छूट।

मैं जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध,
अब अवनति कारण मैं निषिद्ध,

मेरे सुविभाजन हुए विधम,

टूटते, नित्य बन रहे नियम;
नाना केन्द्रों में जलधर सम,
घिर हट, बरसे ये उपलोपम;

यह ज्वाला इतनी हैं समिद्ध,
आहुति बस चाह रही समृद्ध।

तो क्या मैं भ्रम में थी नितान्त,
संहार-बध्य असहाय दान्त;

प्राणी विनाश मुख में अविरल,
चुपचाप चलें होकर निर्बल!
संघर्ष कर्म का मिथ्या बल,
ये शक्ति चिह्न, ये यज्ञ विफल;

भय की उपासना!प्रणति भ्रान्त!
अनुशासन की छाया अशान्त!

तिस पर मैने छीना सुहाग,

हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग;

मैं आज अकिंचन पाती हूँ;

अपने को नहीं सुहाती हूँ;

मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ,

वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ;

दो क्षमा, न दो अपना विराग,

सोयी चेतनता उठे जाग।”

“हे रूद्र रोष अब तक अशान्त”,

श्रद्धा बोली, "बन विषम ध्वान्त!

सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय,

तू विकल कर रही है अभिनय;

अपनापन चेतन का सुखमय,

खो गया, नहीं आलोक उदय;

सब अपने पथ पर चले श्रान्त,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;

औ तर्कमयी! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;

सुख दुख का मधुमय धूप छाँह,
तू ने छोड़ी यह सरल राह।

चेतनता का भौतिक विभाग —

कर, जग को बाँट दिया विराग;

चिति का स्वरुप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत;
कण विरह मिलन मय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत;

तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग जाग!'

मै लोक अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त;

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही;
तो ले ले जो निधि पास रही,
मुझको बस अपनी राह रहा;

रह सौम्य! यही; हो सुखद प्रान्त,

विनिमय कर देकर कर्म कान्त।

तुम दोनो देखो राष्ट्र नीति,

शासक बन फैलाओ न भीति;

मै अपने मनु को खोज चली,

सरिता मरु नग या कुंज गली;

वह भोला इतना नही छली!

मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली;

तब देखूँ कैसी चली रीति,

मानव! तेरी हो सुयश गीति।"”

बोला बालक, “ममता न तोड़,

जननी! मुझसे मुँह यों न मोड़;

तेरी आज्ञा का कर पालन,
वह स्नेह सदा करता लालन-
मैं मरूँ जिऊँ पर छुटे म प्रन,
वरदान बने मेरा जीवन!

जो मुझको तू यों चली छोड़,
तो मुझे मिले फिर यही क्रोड़!"

"हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू ममनशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।"

“अति मधुर वचन विश्वास मूल,
मुझको न कभी ये जायँ भूल;

हे देवि! तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय-उद्गम अविरल;
आकर्षण घन सा वितरे जल,
निर्वासित हो संताप सकल!"

कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल,
पकड़ा कुमार-कर मृदुल फूल।

वे तीनों ही क्षण एक मौन,
विस्मृत से थे, हम कहाँ कौम!

विच्छेद बाह्य, था आलिंगन –
वह हृदय का अति मधुर मिलन;

मिलते आहत होकर जलकन;

लहरों का यह परिणत जीवन;

दो लौट चले पुर ओर मौन,

जब दूर हुए तब रहे दो न;

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त

वह था असीम का चित्र कान्त।

कुछ शून्य बिन्दु उर के ऊपर,

व्यथिता रजनी के श्रम सीकर;

झलके कब से पर पड़े न झर,

गंभीर मलिन छाया भू पर।

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त,

केवल बिखेरता दीन ध्वान्त।

शत शत तारा मंडित अनन्त
कुसुमों का स्तवक खिला बसन्त,

हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर;
बहती माया सरिता ऊपर,
उठती किरणों की लोल लहर;

निचले स्तर पर छाया दुरन्त,
आती चुपके, जाती तुरन्त।

सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल;

धीरे धीर लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल;
छप छप का होता शब्द विरल,
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल;

संसृति अपने में रही भूल,
वह गन्ध विधुर अम्लान फूल।

तब सरस्वती सा फेंक साँस,
श्रद्धा ने देखा आस पास;

थे चमक रहे दो खुले नयन,
ज्यों शिलालग्न अनगढ़े रतन;
यह क्या तम में करता सनसन?
धारा का ही क्या यह निस्वन!

ना, गुहा लतावृत एक पास,
कोई जीवित ले रहा साँस!

वह निर्जन तट था एक चित्र,
कितना सुन्दर, कितना पवित्र!

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर,
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर;
वह लोक अग्नि में तप गल कर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर;

मनु ने देखा कितना विचित्र!
वह मातृ मूर्ति थी विश्व मित्र।

बोले "रमणी तुम नही आह।
जिसके मन मे हो भरी चाह;

तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते! जिसे पाया रोकर;
मै भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सब को देकर;

निर्दय मन क्या न उठा कराह?

अद्‌भुत है तव मन का प्रवाह!

ये श्वापद से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बाल वीर;

सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल?
कैसा कठोर है तव हृत्तल?
वह इड़ा कर गई फिर से छल;

तुम बनी रही हो अभी धीर,
छुट गया हाथ से आह तीर!”

“प्रिय! अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नहीं रंक,

यह विनियम है परिवर्तन,

बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन;
अपराध तुम्हारा वह बन्धन –
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन –

निर्वासित तुम, क्यो लगे डंक?
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।”

“तूम देवि! आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति हैं निर्विकार;

हे सर्वमंगले! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
सबका कल्याण मयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय मे हो रहती;

मै भूला हूँ तुमको निहार –
नारी सा ही! वह लघु विचार।

मै इस निर्जन तट में अधीर
सह भूख व्यथा तीखा समीर;

हाँ भाव चक्र से पिस पिस कर,
चलता ही आया हूँ बढ़ कर;
इनके विकार सी ही बन कर,
मैं शून्य बना सत्ता खोकर;

लघुता मत देखो वक्ष चीर,
जिसमे अनुशय बन घुसा तीर।”

“प्रियतम! यह नत निस्तब्ध रात,
है स्मरण कराती विगत बात;

वह प्रलय शान्ति वह कोलाहल,
जब अर्पित कर जीवन संबल;
मै हुई तुम्हारी थी निश्छल,

क्या भूलूँ मैं, इतनी दुर्बल?

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात,
मैं नित्य तुम्हारी, सत्य बात।

इस देव द्वन्द्व का यह प्रतीक –
मानव! कर ले सब भूल ठीक;

यह विष जो फैला महा विषम,
निज कर्मोन्नति से करते सम;
सब मुक्त बनें , काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम;

गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती हैं पड़ी लीक।"

वह शून्य असत या अंधकार,

अवकाश पटल का वार-पार;

बाहर भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन;

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके परे पार।

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,

तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष! मंगल चेतन!

केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरनों की थी लहर लोल।

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित;

स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद;

आनन्द पूर्ण तांडव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर,
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर;

संहार सृजन से युगल पाद-
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

बिखरे असंख्य ब्रह्मांड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर,
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर;

यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,

सब शाप पाप का कर विनाश –

नर्तन में निरत प्रकृति गल कर,

उस कान्ति सिन्धु में घुल मिलकर;

अपना स्वरूप धरती सुन्दर,

कमनीय बना था भीषणतर;

हीरक गिरि पर विद्युत विलास,

उल्लसित महा हिम धवल हास।

देखा मनु ने नर्त्तित नटेश,

हत चेत पुकार उठे विशेष;

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,

उन चरणों तक, दे निज संबल;

सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते है निर्मल;

मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश!”

रहस्य

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी;
पथ थक कर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।

दोनों पथिक चले है कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे

साहस उत्साही से बढ़ते।

पवन वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, “फिर जा अरे बटोही!
किधर चला तू मुझे भेद कर!
प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही?”

छूने को अम्बर मचली सी
बढ़ी जा रही सतत उँचाई;
विक्षत उसके अंग, प्रगट थे
भीषण खड्ड भयकरी खाँई।

रवि कर हिम खंडों पर पड़ कर
हिमकर कितने नये बनाता;
द्रुततर चक्कर काट पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता।

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने;

कुञ्जर-कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।

प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे;
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधु धाराएँ जैसे।

हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्रपटी से लगते;
प्रतिकृतियों के वाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते।

लघुतम वे सब जो वसुधा पर
ऊपर महाशून्य का घेरा;
ऊँचे चढ़ने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सबेरा।

“कहाँ ले चली हो अब मुझको

श्रद्धे! मैं थक चला अधिक हूँ;
साहस मेरा छूट गया हैं मेरा
निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा;
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा।

मेरे, हाँ वे सब मेरे थे
जिन से रूठ चला आया हूँ;
वे नीचे छूटे सुदूर, पर
भूल नही उनको पाया हूँ।"

वह निश्वास भरी स्मिति निश्छल
श्रद्धा-मुख पर झलक उठी थी;
सेवा कर-पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी।

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली;
“हम बढ़ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली!

दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनंत सा कुछ ऊपर है;
अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर हैं?

निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनो को आज यही है;
नियति खेल देखूँ न सुनो अब
इसका अन्य उपाय नहीं हैं।

झाँई लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती;
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती।

श्रांत पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहे;
शून्य पवन बन पंख हमारे
हमको दे आधार, जम रहे।

घबराओ मत! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये।"
मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।

ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे;
दिवा रात्रि के संधि काल में
ये सब कोई नही व्यस्त थे।

ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू-मंडल रेखा विलीन सी;
निराधार उस महादेश में

उदित सचेतनता नवीन सी।

त्रिदिक् विश्व, आलोक बिन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।

मनु ने पूछा, “कौन नये ग्रह
ये हैं, श्रद्धे! मुझे बताओ?
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इंद्रजाल से मुझे बचाओ।”

“इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमतावाले ये
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।

वह देखो रागारुण हैं जो
ऊषा के कंदुक सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर
भाव-मयी प्रतिमा का मंदिर।

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ!

इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में;
इठलाती सोती जगती ये
अपनी भाव भरी माया में।

वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई हैं लेती;
मादकता की लहर उठा कर
अपना अंबर तर कर देती।

आलिंगन सी मधुर प्रेरणा
छू लेती, फिर सिहरन बनती;
नव अलम्बुषा की व्रीड़ा सी
खुल जाती हैं, फिर जा मुँदती!

यह जीवन की मध्यभूमि है
रस धारा से सिंचित होती;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती।

जिसके तट पर विद्युत कण से
मनोहारिणी आकृति वाले;
छायामय सुषमा मे विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले।

सुमन संकुलित भूमि रंध्र से
मधुर गंध उठती रस भीनी;
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें

छूट रहे, रस बूँदें झीनी।

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों की संसृति छाया;
जिस आलोक बिन्दु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया।

भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ नाभि-घूमती;
नव रस भरी अराएँ अविरल
चक्रवात को चकित चूमती।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना;
माया राज्य! यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फाँसना।

ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूलें;

इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुन्दर झूले।

भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की।

नियममयी उलझन लतिका का
भाव विटप से आकर मिलना;
जीवन वन की बनी समस्या
आशा नभकुसुमों का खिलना।

चिर-वसंत का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले है
सुख दुख बँधते, एक डोर है।"

"सुन्दर यह तुमने दिखलाया

किन्तु कौन वह श्याम देश है?
कामायनी! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष हैं?”

“मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा।

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्ररेणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का;
क्षण भर भी विश्राम नही है
प्राण दास है क्रिया तंत्र का।

भाव राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख मे बदल रहे हैं;
हिंसा सर्वोन्नत हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे है।

ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते;
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने है, सब कराहते।

करते हैं, संतोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से —
प्रति क्षण करते ही जाते है
भीति विवश ये सब कंपित से।

नियति चलाती कर्म चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणि-पादमय पंचभूत की

यहाँ हो रही है उपासना।

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार मे दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मों की भीषण परिणति हैं;
आकांक्षा की तीव्र पिपासा!
ममता की यह निर्मम गति है

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती;
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर फिर गिरवाती।

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले;

जला जला कर फूट पड़ रहे
ढुल कर बहने वाले छाले।

यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब
मरीचिका से दीख पड़ रहे;
भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
ये विलीन, ये पुनः गड़ रहे।

बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती;
अंध प्ररेणा से परिचालित
कर्त्ता में करते निज गिनती।

प्राण तत्व की सघन साधना
जल, हिम उपल यहाँ हैं बनता;
प्यासे घायल हो जल जाते
मर मर कर जीते ही बनता।

यहाँ नील लोहित ज्वाला कुछ

जला गला कर नित्य ढालती;
चोट सहन कर रुकने वाली
धातु, न जिसको मृत्यु सालती।

वर्षा के घन नाद कर रहे
तट कूलों को सहज गिराती;
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य प्राप्ति सरिता बह जाती।"

“बस! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है;
श्रद्धे! वह उज्ज्वल कैसा है
जैसे पुंजीभूत रजत है।”

“प्रियतम! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता;

यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते;
इस निदाघ मरु में, सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते।

मनोभाव से कार्य-कर्म के

समतोलन में दत्त चित्त से;
ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से।

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्झर से;
माँग रहे है जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर से।

यहाँ विभाजन धर्म तुला का
अधिकारों की व्याख्या करता;
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही
अपनी ढीली साँसें भरता।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर सा देखो;
जीवन-मधु एकत्र कर रही
उन ममाखियों सा बस लेखो।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती;
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती।

देखो वे सब सौम्य बने है
किन्तु सशंकित है दोषो से;
वे संकेत दंभ के चलते
भ्रू-चालन मिस परितोषों से।

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वंचित होने दो।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते है;
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते है।

स्वयं व्यस्त पर शांत बने से
शस्त्र शास्त्र रक्षा में पलते;
ये विज्ञान भरे अनुशासन
क्षण क्षण परिवर्तन मे ढलते।

यही त्रिपुर है देखो तुमने
तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख सुख में
भिन्न हुए है ये सब कितने!

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा

जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

नीचे ऊपर लचकीली वह
विषय वायु में धधक रही सी;
महाशून्य में ज्वाल सुनहरी,
सब को कहती 'नही नही' सी।

शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा सा;
श्रृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा सा।

चितिमय चिता धधकती अविरल
महाकाल का विषय नृत्य था;
विश्व रंध्र ज्वाला से भर कर
करता अपना विषम कृत्य था।

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;

दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

आनन्द

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियों का दल;
सरिता के रम्य पुलिन में
गिरि पथ से, ले निज संबल।

था सोम लता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मंथर गति विधि।

वृष रज्जु वाम कर में था

दक्षिण त्रिशूल से शोभित;
मानव था 'साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित।

के हरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्तुटित हुए थे;
यौवन' गम्भीर हुआ था
जिसमें कुछ भाव नये थे।

चल रही इड़ा भी वृष के
दूसरे पार्श्व में नीरव;
गैरिक वसना संध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।

उल्लास रहा युवकों का
शिशु गण का था मृदु कलकल;
महिला मंगल गानों से
मुखरित था वह यात्री दल।

चमरों पर बोझ लदे थे
वे चलते थे मिल अविरल
कुछ शिशु भी बैठ उन्हीं पर
अपने ही बने कुतूहल।

माताएँ पकड़ उनको
बातें थी करती जाती;
‘हम कहाँ चल रहे’ यह सब
उनको विधिवत समझाती।

कह रहा एक था “तू तो
कब से ही सुना रही है –
अब आ पहुँची लो देखो
आगे वह भूमि यही है।

पर बढ़ती ही चलती है
रुकने का नाम नहीं है;
वह तीर्थ कहाँ है कह तो
जिसके हित दौड़ रही है।”

“वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन;
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन।

हाँ इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम;
फिर अति सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावनतम।”

वह इड़ा समीप पहुँच कर
बोला उसको रुकने को;
बालक था, मचल गया था
कुछ और कथा सुनने का।

वह अपलक लोचन अपने
पादाग्र विलोकन करती;
पथ प्रदर्शिका सी चलती
धीरे धीरे डग भरती।

बोली, “हम जहाँ चले है
वह है जगती का पावन –
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शांत तपोवन।”

“कैसा? क्यों शांत तपोवन?
विस्तृत क्यों नही बताती,”
बालक ने कहा इड़ा से
वह बोली कुछ सकुचाती।

“सुनती हूँ एक मनस्वी

था वहाँ एक दिन आया;
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि अंचल में फिर;
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर।

थी अर्धांगिनी उसी की
जो उसे खोजती आयी;
यह दशा देख, करुणा की –
वर्षा दृग में भर लायी।

वरदान बने फिर उसके
आँसू, करते जग मंगल;
सब ताप शांत होकर, बन
हो गया हरित सुख शीतल।

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली;
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली।

वे युगल वही अब बैठे
संसृति की सेवा करते;
संतोष और सुख देकर
सब की दुख ज्वाला हरते।

है वहाँ महाह्रद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता;
मानस उसको कहते है
सुख पाता जो है जाता।"

"तो यह वृष क्यो तू यों ही
वैसे ही चला रही है;

क्यों बैठ न जाती इस पर
अपने को थका रही है?”

“सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने;
यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
पीयूष सलिल से भरने।

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर;
चिर मुक्त रहे यह निर्भय
स्वच्छंद सदा सुख पाकर।"

सब सम्हल गये थे आगे
थी कुछ नीची उतराई;

जिस समतल घाटी में, वह
थी हरियाली से छाई।

श्रम, ताप और पथ पीड़ा
क्षण भर में थे अंतर्हित;
सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित।

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तृण वीरुध वाली;
नव कुंज, गुहा गृह सुन्दर
ह्रद से भर रही निराली।

वह मंजरियों का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली,
प्रति पर्व सुमन संकुल थे
छिप गई उन्हीं में डाली।

यात्री दल ने रुक देखा

मानस का दृश्य निराला;
खग मृग को अति सुखदायक
छोटा सा जगत उजाला।

मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी;
छोटा सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका रानी।

दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढा गगन में;
कैलास प्रदोष प्रभा में
स्थिर बैठा किसी लगन में।

संध्या समीप आयी थी
उस सर के, वल्कल वसना;
तारों से अलक गुँथी थी
पहने कदंब की रसना।

खग कुल किलकार रहे थे
कलहंस कर रहे कलरव;
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थी तानें अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निर्मल मानस तट में;
सुमनों की अंजलि भर कर
श्रद्धा थी खड़ी निकट में।

श्रद्धा ने सुमन बिखेरा
शत शत मधुपों का गुंजन;
भर उठा मनोहर नभ में
मनु तन्मय बैठे उन्मन।

पहचान लिया था सब ने
फिर कैसे अब वे रुकते;
वह देव-द्वन्द्व द्युतिमय था
फिर क्यों न प्रणति में झुकते।

तब वृषभ सोमवाही भी
अपनी घंटा-ध्वनि करता;
बढ़ चला इड़ा के पीछे
मानव भी था डग भरता।

हाँ इड़ा आज भूली थी
पर क्षमा न चाह रही थी;
वह दृश्य देखने को निज
दृग युगल सराह रही थी।

चिर मिलित प्रकृति पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद-अंबु-निधि शोभन।

भर रहा अंक श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर,

वह पुलक भरी गद्‌गद् स्वर –

बोली – "मै धन्य हुई हूँ
जो यहाँ भूल कर आयी;
हे देवि! तुम्हारी ममता
बस मुझे खींचती लायी।

भगवति,समझी मैं! सचमुच
कुछ भी न समझ थी मुझको;
सब को ही भूला रही थी
अभ्यास यही था मुझको।

हम एक कुटुम्ब बना कर
यात्रा करने हैं आये;
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अध छुट जाये।"

मनु ने कुछ कुछ मुसक्याकर
कैलास ओर दिखलाया;
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नही पराया।

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं है;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नही कमी है

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

चेतन समुद्र मे जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना

निर्मित आकार खड़ा है।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्‌बुद्‌ सा रूप बनाये;
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये।

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है;
सब में घुल मिल कर रस मय
रहता यह भाव चरम है।

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

सब की सेवा न परायी
वह अपनी सुख संसृति है;

अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

मै की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।

जग ले ऊषा के दृग में
सो ले निशि की पलकों में;
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलकों में —

चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा।

सब भेद भाव भुलवा कर

दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! ‘यह मैं हूँ’
यह विश्व नीड़ बन जाता।”

श्रद्धा के मधु अधरों की
छोटी छोटी रेखाएँ;
रागारुण किरण कला सी
विकसीं बन स्मिति लेखाएँ।

वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली;
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की वन बेली।

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा;
जैसे गंभीर महाह्लद
हो भरा विमल जल महिमा।

जिस मुरली के निस्वन से
यह शून्य रागमय होता;
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता।

क्षण भर में सब परिवर्त्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के;
पिंगल पराग से मचले
आनंद सुधा रस छलके।

अति मधुर गंधवह बहता
परिमल बूँदों से सिंचित;
सुख स्पर्श कमल केसर का
कर आया रज से रंजित।

जैसे असंख्य मुकुलों का
मादन विकास कर आया;

उनके अछूत अधरों का
कितना चुंबन भर लाया।

रुक रुक कर कुछ इठलाता
जैसे कुछ हो वह भूला;
नव कनक-कुसुम-रज धूसर
मकरंद जलद सा फूला।

जैसे वनलक्ष्मी ने ही
बिखराया हो केसर रज;
या हेमकूट हिम जल में
झलकाता परछाई निज।

संसृति के मधुर मिलन के
उच्छ्वास बना कर निज दल;
चल पड़े गगन आँगन में
कुछ गाते अभिनव मंगल।

बल्लरियाँ नृत्य निरत थी

बिखरी सुगन्ध की लहरें;
फिर वेणु रंध्र से उठ कर
मूर्छना कहाँ अब ठहरे।

गूँजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर;
वाणी की वीणा ध्वनि सी
भर उठी शून्य में झिल कर।

उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते;
परिमल से चली नहा कर
काकली, सुमन थे झड़ते।

सिकुड़न कौशेय वसन की
थी विश्व सुन्दरी तन पर;
या मादन मृदुतम कंपन
छायी सम्पूर्ण सृजन पर।

सुख सहचर दुःख विदूषक
परिहास पूर्ण कर अभिनय;
सब की विस्मृति के पट में
छिप बैठा था अब निर्भय।

थे डाल डाल में मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर से;
रस भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे धीरे से बरसे।

हिम खंड रश्मि मंडित हो
मणि-दीप प्रकाश दिखाता;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता।

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की;
संकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की।

रश्मियाँ बनीं अप्सरियाँ
अंतरिक्ष में नचती थी;
परिमल का कन कन लेकर
निज रंगमंच रचती थी।

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी।

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी
लहरों का कोमल नर्त्तन।

प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से;
सब पहचाने से लगते

अपनी ही एक कला से।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।

•••